जैन भारती

सितंबर, 2009 • वर्ष 57 • अंक 9 • वार्षिक रु. 200.00

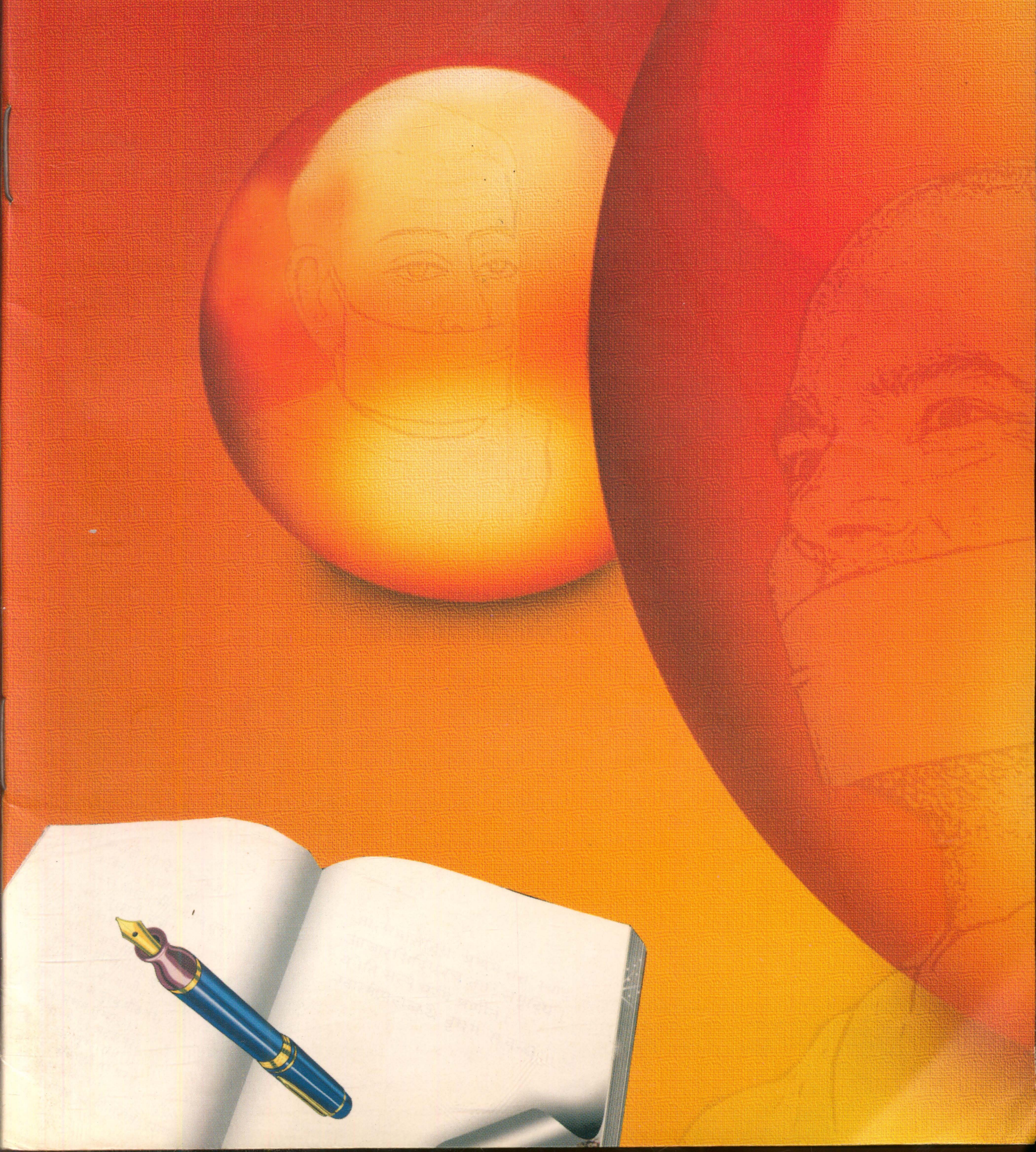

With best compliments from :

स्वरूप चन्द बरड़िया

दिल्ली-सरदारशहर

मो. : 09868099963

SHREE SADAN

12/3, East Punjabi Bag

New Delhi 110026

Phone Off. : 011-2592-7592
Resi. : 4540-5934/4246-0905
Fax : 4101-2191

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 57 • सितंबर, 2009 • अंक 9

विमर्श

11
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
शिक्षा : मन के प्रशिक्षण की जरूरत

17
आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
भाषा : नैतिक निष्ठा के विकास की वाहक

19
जे. कृष्णमूर्ति
शिक्षा का तात्पर्य : शांति और सामंजस्य

अनुभूति

25
युवाचार्यश्री महाश्रमण
अन्धकारनिरोधित्वात् गुरुरित्यभिधीयते

28
मुनि दीपकुमार
आचार्यश्री डालगणी : निर्बाध गति; लक्ष्य स्पष्ट

32
डॉ. बच्छराज दूगड़
सरलता में प्रतिध्वनित आध्यात्मिक ऊंचाई

35
मुनि बुद्धमल्ल
आचार्यश्री डालगणी : साहस, निर्भीकता और विनयशीलता का अद्भुत संगम

40
कहानी
सुदर्शन नारंग
अंतराल

44
कविता
कन्हैयालाल सेठिया की कविताएं

प्रसंग

7
शुभू पटवा
शिक्षा—जीवन की गरिमा

शीलन

47
साध्वी गुप्तिप्रभा
बा बुद्धि किण काम री पड़िया बांधे कर्म

50
साध्वी सुमतिप्रभा
युवाचार्यश्री महाश्रमण : सत्यश्रद्धा बलीयसी

52
बालकथा
चित्रा मुद्गल
कल्पक की मुक्ति

•
आवरण
गौरीशंकर

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 0151-2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

क्या आपने व्याकरण पढ़ा है?

स्वामीजी के पास एक ब्राह्मण आया और उसने पूछा—'साधुजी! आपने व्याकरण पढ़ा है?'

स्वामीजी बोले—'हमने व्याकरण नहीं पढ़ा।'

तब ब्राह्मण बोला—'व्याकरण पढ़े बिना शास्त्र का अर्थ नहीं समझा जा सकता।'

तब स्वामीजी बोले—'तुम तो व्याकरण पढ़े हो?'

तब वह बोला—'मैं तो व्याकरण पढ़ा हूं।'

'तुम तो शास्त्र का अर्थ समझ लेते हो?'

तब वह बोला—'मैं तो शास्त्र का अर्थ समझ लेता हूं।'

तब स्वामीजी ने कहा—'कयरे मग्ग मक्खाया—इस पाठ का अर्थ करो।'

तब वह ब्राह्मण बोला—'कयरे' का अर्थ है—कैर, 'मग्ग' का अर्थ है—मूंग और 'अक्खाया' का अर्थ है—उन्हें 'आखा'—अक्षत रूप में अर्थात् बिना तोड़े नहीं खाना चाहिए।'

तब स्वामीजी बोले—'यह अर्थ तो सही नहीं है।'

तब वह बोला—'इसका अर्थ क्या है?'

तब स्वामीजी बोले—'कयरे' का अर्थ है—कितने, 'मग्ग' का अर्थ है—मोक्षमार्ग और अक्खाया का अर्थ है—तीर्थंकरों द्वारा आख्यात—कहे गए हैं। इस पाठ का अर्थ यह है।'

यह भी धर्म होगा

अमुक संप्रदाय के साधु कहते हैं—'किसी को रुपया देने से उन रुपयों पर होने वाली ममता मिट जाती है, वह धर्म है।'

तब स्वामीजी बोले—'किसी किसान ने बीस हलों या बीस बीघों की खेती की। उसने दस हलों या दस बीघों की खेती किसी ब्राह्मण को दे दी। तो उन साधुओं के अनुसार उस किसान की उस खेती पर ममता मिट गई। उनके अनुसार यह भी धर्म होगा।'

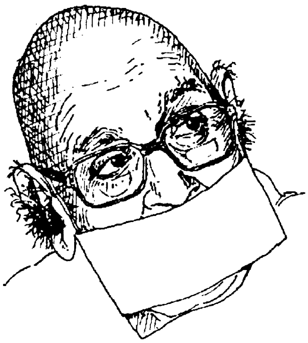

हम सब जीव हैं, चेतन हैं और पुद्‌गल जड़ हैं, अचेतन हैं। इस स्थिति में किसी के मस्तिष्क में यह प्रश्न उभरना स्वाभाविक है कि हमें तो आत्मा का ज्ञान करना चाहिए, पुद्‌गलों के ज्ञान से हमारा क्या लेना-देना! यह ठीक है कि हमें आत्मा का ज्ञान करना चाहिए, पर हमें यह भी ख्याल में रखना चाहिए कि बिना जड़ को जाने हम चेतन को नहीं जान सकते, बिना पुद्‌गल को जाने हम आत्मा को भी नहीं पहचान सकते। यद्यपि पुद्‌गल हेय है, तथापि जब तक हम उन्हें जानेंगे ही नहीं, तब तक उन्हें छोड़ेंगे कैसे? हिंसा को जानना उतना ही जरूरी है, जितना अहिंसा को जानना। अन्यथा न तो अहिंसा को समझा जा सकता है और न ही हिंसा छोड़ी जा सकती है। सत्य को जानने के लिए और उसे स्वीकार करने के लिए असत्य को जानना और समझना भी आवश्यक है, अन्यथा सत्य और असत्य का विवेक नहीं किया जा सकता; और जहां इनका विवेक ही नहीं होता, वहां व्यक्ति कैसे तो हेय को छोड़ेगा और कैसे उपादेय को स्वीकार करेगा?

हमें हेय और उपादेय—दोनों ही प्रकार के तत्त्व समान रूप से जानने और समझने चाहिए। सम्यक् रूप से जानने के बाद हम हेय को छोड़ते चले जाएं और उपादेय को ग्रहण करते चलें—यही प्रशस्त पथ है।

—आचार्यश्री तुलसी

आदमी में ज्यादा ज्ञान न भी हो, पर सेवा की भावना है और सहज-स्नेह की भावना है—तो कम ज्ञान वाला व्यक्ति भी प्रिय बन जाता है। उसकी प्रतिष्ठा भी बढ़ती है और सबसे बड़ी बात यह है कि उसकी चेतना निर्मलता को प्राप्त हो जाती है। इतना ही नहीं, स्वयं तीर्थंकर कहते हैं कि जो मुनि अग्लान भाव से रुग्ण मुनि की सेवा करता है, वह वास्तव में मेरी ही सेवा करता है। आदमी नाम, ख्याति, प्रतिष्ठा और प्रतिफल की आकांक्षा से सेवा न करे। इस परिप्रेक्ष्य में मां को याद करना चाहिए। एक बच्चा, जो शारीरिक या मानसिक दृष्टि से अविकसित होता है, मां फिर भी अपने ममत्वभाव से पूर्ण दायित्वबोध के साथ बच्चे की सेवा करती है। उन बच्चों से भविष्य में पुनः कुछ पाने की आशा नहीं होती। इसके बावजूद भी मां अपना मातृत्व-धर्म निभाते हुए बच्चे की सेवा करती रहती है। यह एक उदाहरण है, किस प्रकार निष्काम-भाव से और प्रतिफल की इच्छा के बिना भी सेवा की जा सकती है। ऐसी सांसारिक सेवा का जहां महत्त्व है, वहां पारमार्थिक सेवा तो अपने-आप में बहुत बड़ी बात होती है। सेवा तो शाश्वत धर्म है। सेवा करने से भेद का त्याग होता है। सेवा में अपना समर्पण होता है।

सेवा धर्म परम गहन तत्त्व है। इसलिए परमार्थ की भावना से, परार्थ की भावना से सेवा की जाए तो कर्म-निर्जरा होगी और सामने वाले व्यक्ति को भी समाधि मिलेगी। सेवा से परस्पर संबंध सुदृढ़ बनते हैं, आश्वासन मिलता और स्वयं की चेतना भी निर्मल बनती है।

—युवाचार्यश्री महाश्रमण

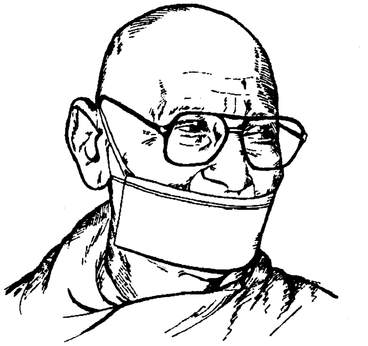

इंद्रिय-संयम केवल संन्यासी और तपस्वी के लिए ही जरूरी नहीं है, एक सीमा तक यह पूरे समाज के लिए जरूरी है। यह शासक के लिए भी जरूरी है और शासित के लिए भी जरूरी है। जो व्यक्ति या परिवार इंद्रिय-संयम का अभ्यास नहीं करता, उस परिवार में समस्याएं पैदा होती रहती हैं, लड़ाई-झगड़े चलते हैं और इसी के कारण जाति, समाज और राष्ट्र में भी विप्लव होता है।

इस दृष्टि से एक सीमा तक इंद्रियों पर नियंत्रण होना, आसक्ति पर अंकुश लगाना बहुत आवश्यक है। अनासक्ति का सिद्धांत बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

अनावश्यक वस्तुओं के वर्जन से इसका व्यावहारिक रूप बन सकता है। किस व्यक्ति के मन में कितनी आसक्ति है, उसकी पहचान नहीं की जा सकती और हर व्यक्ति अपने-आप को अनासक्त मान सकता है। अनासक्ति की पहचान व्यवहार से ही की जा सकती है। जो व्यक्ति वस्तुओं का अनावश्यक उपभोग नहीं करता, उसके जीवन में अनासक्ति का सिद्धांत उतरा हुआ मान सकते हैं।

आज के आर्थिक विकास का आधार है—पदार्थ का उत्पादन; उन वस्तुओं का विज्ञापन और वितरण तथा अनावश्यक वस्तुओं के प्रति मनुष्यों में आकर्षण एवं भूख पैदा करना। ये ही बातें जीवन में अनेक समस्याएं पैदा करती हैं।

उद्योग क्षेत्र में आज एक नई समस्या आ रही है और वह है 'जीन' की समस्या। 'जीन' के विकास के साथ-साथ एक नई तकनीक का विकास हो रहा है। 'जीन इंजीनियरिंग' की पूरी जानकारी मनुष्य ने हस्तगत कर ली है। अब इसके आधार पर नई चीजों का निर्माण कर कंपनियां उन्हें 'पेटेंट' करने लगी हैं और उससे अपार धनराशि प्राप्त करने की होड़ चल रही है। इससे आर्थिक लाभ तो बहुत होगा, पर लोगों के लिए नई-नई समस्याएं भी खड़ी हो जाएंगी।

आज अनेक वैज्ञानिक 'जीन' के विकास के साथ-साथ 'जीन' के प्रत्यारोपण की प्रक्रिया को जान कर भयभीत हो रहे हैं। वे जानते हैं कि इससे मनुष्य-समाज अनेक मुसीबतों में फंस जाएगा।

इन सब बातों से ऐसा लगता है कि मनुष्य का दृष्टिकोण केवल आर्थिक बन गया है। मानवीय दृष्टिकोण का मानो सर्वथा लोप ही हो गया है। मानव परदे के पीछे चला गया है। उस पर पूरा आवरण जैसा आ गया है। यह आवरण आध्यात्मिकता से ही दूर हो सकता है। आदमी चाहे कितना ही बड़ा वैज्ञानिक, अर्थशास्त्री या समाजशास्त्री हो जाए—अंतर्मुखता के बिना यह परदा नहीं हटेगा।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

शिक्षा—जीवन की गरिमा

कहना चाहिए कि आज यही नजर नहीं आती। जीवन की गरिमा क्या है और कैसे यह बनी रह सकती है, इस पर कितना गौर हो सका है—यह विचारणीय है। इस दिशा में एक आशा की किरण शिक्षा है, बल्कि कहना चाहिए—विद्या है। वैसी विद्या जो ज्ञान की वाहक और मनुष्य के विवेक को जाग्रत कर सके, पर जो विद्या आज मिलती है या कि दी जाती है—वह तो शिक्षा है। ज्ञान और विवेक उससे जगता होगा, कहना कठिन है। यह शिक्षा हमें जो दे रही है, उसके नमूने आए दिन देखने को मिलते हैं।

यह शिक्षा विवेक की आंख से किसी को देखने-परखने की क्षमता नहीं दे रही, बल्कि नश्तर की नोक पर दहशत की हवा बनाने का काम कर रही है। उदाहरण के तौर पर हम गौर करें—शिक्षित, संभ्रांत और संपन्न-घरों के उन युवजनों की ओर जो डाक्टर, कंप्यूटर विशेषज्ञ और इंजीनियर बनना चाहते हैं। पिछले ही साल सामने आई कुछ घटनाओं से हमारी सरकार बड़ी चिंतित हुई थी कि ऐसे उच्च शिक्षित युवजन हिंसा और आतंकवाद जैसी घटनाओं के होने में सक्रिय हैं। इन घटनाओं से हमारा केंद्रीय गृह-मंत्रालय तब बड़ा चिंतित हुआ और इसके कारणों की मनोवैज्ञानिक पड़ताल कराने के लिए गहन अध्ययन कराया जाना जरूरी समझा। ऐसा कोई अध्ययन बीते एक साल में हुआ या नहीं—जानकारी नहीं है।

इस बात से यह तो सामने आ ही गया कि हमारी वर्तमान शिक्षा कसौटी पर है और यह वैसी शिक्षा तो नहीं ही है, जो जीवन की गरिमा को बनाए रख सके—जिससे ज्ञान और विवेक जग जाए और नीर-क्षीर किया जा सके। ऐसी शिक्षा इसे नहीं कह सकते।

यह बाजार में खपने-खपाने वाली शिक्षा है। पर, यह बात भी पूर्ण सत्य नहीं है। इस बाजार का जो सिद्धांत रहा है, उसी बाजार ने इस शिक्षा को ठिकाने लगा दिया है। याद करें पिछला साल। सितंबर 2008 के एक ही महीने में अमेरिका में एक लाख उनसठ हजार नौकरियों में कटौती हुई और लोगों को घर बैठना पड़ा। इसी साल जुलाई (2009) में एक रिपोर्ट आई कि हमारे देश के तमिलनाडु जैसे राज्य में अब सूचना-प्रौद्योगिकी, इंजीनियरिंग और कंप्यूटर विज्ञान जैसे विषयों का आकर्षण समाप्त हो गया है। रिपोर्ट बताती है कि प्रदेश के इंजीनियरिंग कॉलेजों में एक लाख पांच हजार सीटें

उपलब्ध है, पर उनमें से तेंतालीस हजार सीटें ही भरी गई है। इसी तरह सूचना-प्रौद्योगिकी की कुल सीटों में से बाईस फीसद और कंप्यूटर विज्ञान में उनतीस फीसद सीटें ही भरी जा सकी है, शेष खाली पड़ी हैं। तमिलनाडु के 426 में से 190 इंजीनियरिंग कॉलेजों के 'आई. टी.' पाठ्यक्रम में एक भी छात्र नहीं पहुंचा है। बाजार ने यही शिक्षा सिर-माथे चढ़ाई थी और कुछ ही समय गुजरा, इसे ठिकाने लगा दिया। यह हमारा बाजार है।

यह दशा जो संकेत दे रही है, उससे सचेत होने की आवश्यकता है। अलबत्ता यहां हमें उसके बारे में अधिक कुछ कहने की जरूरत नहीं है, क्योंकि यही वह शिक्षा है जिसने ज्ञान और विवेक को जगाने की जगह हमारे युवजनों में प्रलोभन और भय को जगाया है। आतंक, हिंसा और विषमता के बीज इन्हीं में हैं। इसे शिक्षा कहें—चाहें तो, पर यह विद्या तो नहीं ही है।

विद्या क्या है? कठोपनिषद् हमें बताता है—'सा विद्या या विमुक्तये—विद्या वह है जो मुक्ति की ओर ले जाए।' लेकिन, आज जैसी शिक्षा दी जा रही है, वह भंवर में फंसने और किसी खदान में धंसते चले जाने की मानिंद है। प्रमुख शिक्षाविद् दयालचंद्रजी सोनी मानते रहे हैं कि—'आत्मसंधान या आत्मगत शिक्षण भी शिक्षा की विषयवस्तु का एक आयाम हो सकता है—यह आज तक कहीं सुना या देखा नहीं गया।' वे कहते हैं कि भाषा, गणित, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र और विज्ञान आदि अनेक विषय शिक्षा की विषयवस्तु के रूप में सुने गए हैं। वे यह भी कहते हैं कि आकाश का अध्ययन करना हमें सूझ गया और सूर्य, चंद्र, हवा, पानी, अग्नि व मिट्टी आदि का अध्ययन हमने किया, लेकिन आत्मसंधान या आत्मगत शिक्षण को शिक्षा का विषय नहीं बनाया। इसे वे इस तरह मानते हैं कि जैसे—'मनुष्य की शिक्षा का सारा क्षेत्र मनुष्य के बाहर ही है।' लोकनायक जयप्रकाश नारायण यह बात इस तरह कहते हैं—'दुर्भाग्य की बात है कि मानवीय संस्कृति अथवा आत्मोन्नति आज अनुत्पादक शाब्दिक परिपाटी के रूप रह गई है। उसके साथ कुछ ब्राह्य शारीरिक क्रियाएं भी जुड़ गई हैं। उनके द्वारा न तो मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है, न सत्य का दर्शन हो सकता है। मानव का सच्ची मानवता की ओर बढ़ने का जो लक्ष्य है, वह उससे पूरा नहीं होगा।' तब—'विद्या वह जो मुक्ति की ओर ले जाए'—कठोपनिषद् की यह बात क्या वहीं तक सीमित रह जाने वाली है?

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ऐसे सभी पहलुओं पर एक अलग दृष्टिकोण रखते हैं। वे परिस्थिति और मनःस्थिति के स्तर पर मानते हैं कि आज परिस्थिति में सुधार के लिए जितना जोर दिया जाता है, उसकी तुलना में मनःस्थिति को बदलने की ओर कोई जोर नहीं दिया जाता। वे कहते हैं—'जब तक हम परिस्थिति पर निर्भर रहेंगे और मनःस्थिति पर ध्यान केंद्रित नहीं करेंगे, तो सुधार की संभावना नहीं रहेगी। मनःस्थिति सुधरे बिना परिस्थिति सुधर जाएगी—यह भूतो न भविष्यति।' मनःस्थिति के परिष्कार के सूत्र के रूप में वे धर्म और अध्यात्म की भूमिका को महत्त्व देते हैं। वे चेतना के परिष्कार को ही धर्म और अध्यात्म मानते हैं। उनके अनुसार मन को समझना, मन का परिष्कार करना, मन को निर्मल बनाना ही धर्म, अध्यात्म और प्रेक्षाध्यान का उद्देश्य है। वे कहते हैं कि चित्त इतना निर्मल बन जाए कि उसमें दूसरे के प्रति क्रूरता का भाव ही न रहे, वह करुणा से परिपूर्ण हो जाए। अप्रामाणिकता, अनैतिकता और बुराई का कोई भाव किसी के प्रति न रहे। केवल मंगल भावना, मैत्री और करुणा भावना रहे। यही मुक्ति है और इसे ही विद्या माना जा सकता है।

पांच सितंबर का दिन शिक्षक दिवस (सर्वपल्ली राधाकृष्णन का जन्म दिन) के रूप में हमारे सामने है। हमारा शिक्षा-जगत व शिक्षक समुदाय इस दिशा में विचार करेगा—यह अभीष्ट है। इसीलिए शिक्षा के प्रश्न पर **जैन भारती** के इस अंक में हमने ऐसी ही विशिष्ट विचार सामग्री अपने पाठकों के लिए प्रस्तुत की है।

सितंबर के इस मास में युवाचार्यश्री महाश्रमणजी का युवाचार्य मनोनयन दिवस (1 सितंबर) भी है। संयोग कि इस मास में आया मनोनयन दिवस भी हमें ये सब बातें ही स्मरण कराता है। इस अवसर विशेष पर युवाचार्यश्री महाश्रमणजी के प्रति हर्ष व विनय के साथ अभिवादन।

—शुभू पटवा

[जैन भारती के अगस्त' 09 के अंक में हमारी फिर चूक हुई। प्रख्यात समाजशास्त्री श्यामाचरणजी दुबे को हमारे पाठक खूब जानते हैं और **जैन भारती** में पढ़ते रहे हैं। पिछले अंक के इसी 'प्रसंग' में उनके कथन का उल्लेख हमने किया, पर 'दुबे' की जगह 'शुक्ल' लिख दिया। कलम घसीट की इस चूक के लिए हमें खेद है। पाठक कृपया 'शुक्ल' नहीं, 'दुबे' पढ़ें। — सं.]

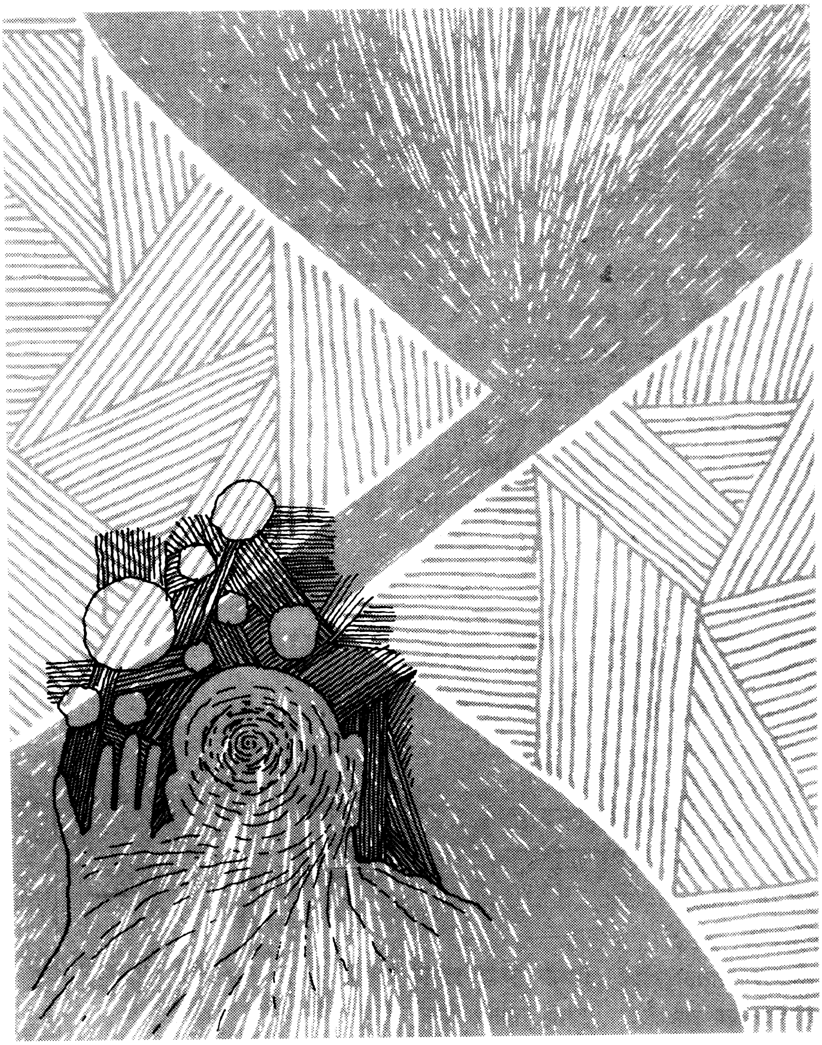

विमर्श

निर्धन होना एक अलग बात है, पर दीन या भीरु होना एक बिल्कुल अलग बात है। धन की कमी का नाम निर्धनता है। पर, दीन वह है—जिसमें आत्म सम्मान की भावना न हो। निर्धनता देश के लिए इतना बड़ा कलंक या अभिशाप नहीं है, जितना बड़ा कलंक तथा अभिशाप दीनता है। दीनता जहां आ जाती है, वहां चरित्र टिक नहीं सकता। दीनता मनुष्य के भीतर बसे हुए अंतरात्मा रूपी धर्म अथवा ईश्वर का घोर अपमान है। वास्तव में दीनता तो ईश्वर के प्रति एक अक्षम्य अपराध है। यदि मनुष्य को दीन या भीरु होना है तो वह केवल एक अंतर्यामी ईश्वर या धर्म के प्रति दीन या भीरु हो सकता है। यदि उसे शरण ग्रहण करनी है तो वह अपने अंतःकरण की शरण में आ सकता है, पर एक मनुष्य किसी दूसरे मनुष्य के आगे दीनता प्रकट करे और बिना किसी शर्त के उसकी शरण ग्रहण करे, यह मानवता का तिरस्कार है। इस तरह की दीनता एक तरफ तो स्वयं दीन बने हुए व्यक्ति का पतन करती है, दूसरी ओर वह उस व्यक्ति का भी पतन करती है, जिसके सम्मुख एक दीन व्यक्ति अपनी दीनता दिखाता है।

—दयालचन्द सोनी

अनेक सवालों और समस्याओं से संत्रस्थ हमारा समाज आज शिक्षा में ही उनके त्राण की तलाश करता प्रतीत हो रहा है, पर जो शिक्षा वर्तमान समय में दी जा रही है— उसमें किसी भी समस्या का समाधान नजर नहीं आ रहा। फिर भी उम्मीद की किरण शिक्षा में ही नजर आती है। शिक्षा के सवाल पर अनेक विद्वानों, विचारकों ने बुनियादी अवधारणाएं प्रस्तुत की हैं। डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन भी उनमें से एक हैं। 5 सितंबर उनका जन्म दिन भी है और शिक्षक दिवस भी। इस अवसर विशेष पर हमारे वर्तमान समय के उद्‌भट विचारक और दार्शनिक आचार्यश्री महाप्रज्ञजी शिक्षा जैसे उलझे विषय पर एक अलग ही दृष्टिकोण प्रस्तुत कर रहे हैं। वे कहते हैं कि हमने बुद्धि के विकास को शिक्षा का अंग बनाया, पर मन को बदलने का प्रशिक्षण शिक्षा का अंग नहीं बन पाया। उनके मतानुसार मन को शिक्षित करना जरूरी है। कैसे हो मन का शिक्षण-प्रशिक्षण—दो अंकों में समाप्य इस आलेख में बता रहे हैं—आचार्यश्री महाप्रज्ञजी

शिक्षा : मन के प्रशिक्षण की जरूरत

❑ आचार्यश्री महाप्रज्ञ ❑

मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो शिक्षा प्राप्त करता है, शिक्षित होता है, दूसरे प्राणी शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकते। मनुष्य जाति भी दो श्रेणियों में विभक्त है। जो मनुष्य भाषा पर अधिकार जमाए हुए हैं, जो कुछ विषयों को अपनी बुद्धि के भरोसे सौंप देते हैं—वे शिक्षित श्रेणी में आते हैं। जिनका भाषा पर कोई अधिकार नहीं, जिनका बुद्धि-वैभव शून्य है—वे अशिक्षित श्रेणी में आते हैं। शिक्षा को सब लोग जरूरी मानते हैं और इसलिए मानते हैं कि यदि समाज में रहना है, समाज में जीना है तो शिक्षा जरूरी है। हमें अलग-अलग विषयों—मनोविज्ञान का अध्ययन करना होगा, समाजशास्त्र का अध्ययन करना होगा। मनुष्य को भूख लगती है, प्यास लगती है, उसमें कामवासना जागती है। इन सबकी पूर्ति के लिए आदमी को अनेक प्रयत्न करने पड़ते हैं। उसके लिए गणितशास्त्र और व्यापारशास्त्र का अध्ययन भी जरूरी है। विद्या की जितनी शाखाएं हैं, उन सबका अध्ययन आदमी इसलिए करता है कि उसकी भूख मिट सके। इस आधार पर जो व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को पूरी करने में सहायक होने वाली विद्याओं का अध्ययन करता है—वह शिक्षित होता है। ये सारी बातें शिक्षा की सीमा में आ गईं। किंतु अपने बारे में कुछ जानना जरूरी है, ऐसी धारणा सामाजिक जगत में अभी तक नहीं बनी है। पता नहीं, यह कैसे हुआ कि आदमी का ध्यान निमित्तों पर अटक गया। उसने उपादान को भुला दिया।

आज सबसे बड़ी समस्या है—उपादान और निमित्त की। आज का आदमी निमित्तों को बदल कर सबकुछ करना चाहता है। वह उपादान की ओर ध्यान ही नहीं देता। जब तक निमित्तों को बदलने की बात सामने रहेगी, तब तक कोई-न-कोई कार्य आदमी के समक्ष रहेगा

ही। एक निमित्त बदलता है, दूसरा सामने आकर उपस्थित हो जाता है। फिर उसे बदलते हैं, तीसरा उभर आता है। इनका कहीं अंत नहीं आता। उपादान को बदले बिना स्थाई बदलाव घटित नहीं होता। आज यह बात समझ में नहीं आ रही है। यही कारण है कि हजार प्रयत्न करने पर भी आदमी नहीं बदलता। कैसे बदले! उपदेश की एक सीमा होती है। भाषा और विचार की अपनी सीमा है। विचार व्यक्ति को प्रेरित करता भी है और नहीं भी करता। भाषा व्यक्ति को प्रेरित करती भी है और नहीं भी करती। अपनी-अपनी सीमा है। कुछ बदलता भी है, किंतु जितनी मात्रा में बदलना चाहिए उतना नहीं बदलता। इसका कारण स्पष्ट है। जिस बिंदु पर आदमी बदलता है, उस बिंदु तक भाषा पहुंचती नहीं, उपदेश पहुंचता नहीं। बदलने का बिंदु बहुत गहरे में है और भाषा तथा विचार ऊपरी सतह तक ही पहुंच पाते हैं। इस स्थिति में बदलाव कैसे हो? जिसको बदलना है, वहां तक पहुंचने पर ही बदलाव घटित हो सकता है, अन्यथा नहीं।

विकास के दो आधार हैं—भाषा और चिंतन की स्पष्टता। भाषा और मन—विकास के ये दो माध्यम हैं। मन से स्मृति, कल्पना और चिंतन होता है। मनुष्य में विकसित स्मृति है, विकसित कल्पना है और विकसित चिंतन है, इसलिए वह विशिष्ट माना जाता है। पशु में भाषा है, पर वह स्पष्ट नहीं है। उसमें चिंतन है, पर तात्कालिक है, बहुत गहरा चिंतन नहीं है। मनुष्य की भाषा स्पष्ट है और चिंतन भी विकसित है।

> *एक प्रश्न है—बदलने के हजारों प्रयत्न चल रहे हैं, फिर भी निष्पत्ति क्यों नहीं आती? इसका एक ही कारण है कि हमने बदलने को शिक्षा का अंग नहीं माना। आज बुद्धि के विकास को शिक्षा का अंग माना जाता है। पर, मन को शिक्षा का विषय बनाया ही नहीं गया। आज की शिक्षा से बुद्धि तो तेज होती है, उसकी धार बहुत तीखी हो जाती है—पर, बेचारी बुद्धि क्या करेगी? जितनी बुराइयां और विकृतियां हैं, वे सब मन की चंचलता से उत्पन्न होती हैं। उनकी उत्पत्ति में बुद्धि का कोई हाथ नहीं है। अतः मन को शिक्षित किए बिना इन विकारों से छुटकारा नहीं पाया जा सकता। आज की शिक्षा में मन को प्रशिक्षित करने का कोई प्रावधान नहीं है। शिक्षा की परिधि में और सब विषय आ गए, पर मन को शिक्षित करने का कोई उपक्रम नहीं आया। जब तक मन प्रशिक्षित नहीं होता तब तक हम व्यक्ति को बदलना चाहें, अच्छा बनाना चाहें—यह कभी संभव नहीं हो सकता। सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है मन को शिक्षित करना।*

हम ध्यान का प्रयोग करते हैं। उसके द्वारा अतीत की स्मृति को कम करने का प्रयत्न, भविष्य की कल्पना को छोड़ने का प्रयत्न और वर्तमान में होने का, जीने का प्रयत्न कर रहे हैं। प्रश्न होता है कि क्या हम फिर से उलटा चल रहे हैं? भाषा और चिंतन का जो विकास हमें प्राप्त हुआ है, उससे उलटा चल रहे हैं? हम मौन का अभ्यास कर रहे हैं और विकल्पों को कम करने का अभ्यास कर रहे हैं, तो क्या यह विकास की प्रक्रिया है? यदि भाषा न हो, चिंतन न हो और यही अच्छी स्थिति मानी जाए, तो अविकसित प्राणी बहुत अच्छे हैं। उनमें भाषा और चिंतन कहां है? वनस्पति के जीवों में या कीड़े-मकोड़ों में कहां है भाषा? कहां है चिंतन? क्या हम उस स्थिति में लौट जाना चाहते हैं? क्या हम विकास को अवरुद्ध कर देना चाहते हैं? यह प्रयत्न क्यों?

यह बहुत बड़ा प्रश्न है। क्या यह अच्छा नहीं होता कि हमें भाषा उपलब्ध ही नहीं होती? मन प्राप्त ही नहीं होता? क्या यह अच्छा नहीं होता कि हम फिर मनुष्य ही नहीं होते? जब हम मनुष्य बन गए, हमें भाषा और चिंतन का विकास प्राप्त हो गया, तो फिर उसे रोकने का प्रयोजन क्यों? उससे उलटे चलने का अर्थ ही क्या है? प्रवृत्ति के जो स्रोत हमें मिले हैं, उन्हें निवृत्ति की ओर क्यों ले जाएं?

भारत में चिंतन की दो धाराएं सदा रही हैं। एक है—प्रवृत्तिवाद और दूसरी है—निवृत्तिवाद। प्रवृत्ति और निवृत्ति—यह वस्तु-तत्त्व का स्वाभाविक पक्ष है। इसका अनुभव किया गया, किंतु अनुभव की बात जब बुद्धि के स्तर पर चर्चित होती है, तब उसकी सूक्ष्मता समाप्त हो जाती है। केवल स्थूलता बची रहती है। सारे दर्शन-जगत में यही हुआ है, स्थूल-तत्त्व उभर कर सामने आ गए और जो रहस्य थे, सूक्ष्मताएं थीं—वे नीचे ही छिपी रह गईं। प्रवृत्ति और निवृत्ति भी विवाद का विषय बन गया, जबकि इनमें विवाद जैसा कुछ है

नहीं। यह जीवन की स्वाभाविक प्रक्रिया है, न केवल मानवीय जीवन की, अपितु संपूर्ण प्राणी जगत की, चेतन जगत की स्वाभाविक प्रक्रिया है। इतना ही नहीं, यह जड़ जगत की भी स्वाभाविक प्रक्रिया है। प्रत्येक पदार्थ में, जड़ या चेतन, दो पक्ष होते हैं—'पोजिटिव' और 'नेगेटिव'—विधायक और निषेधक। कोई भी शक्ति ऐसी नहीं होती जिसमें ये दोनों न हों। विधायक पक्ष है—हमारी प्रवृत्ति और निषेधक पक्ष है—हमारी निवृत्ति।

प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में प्रवृत्ति और निवृत्ति का संतुलन अपेक्षित है। जहां कहीं यह संतुलन बिगड़ता है, वहां बड़ी कठिनाई पैदा हो जाती है। कोरी प्रवृत्ति पागलपन की ओर ले जाती है। कोरा काम आदमी को निकम्मा बना देता है। अनेक लोग प्रवृत्ति में बहुत विश्वास करते हैं। वे प्रवृत्ति करते-करते अपनी शक्ति को इतना खर्च कर डालते हैं कि अति प्रवृत्ति उनके लिए वरदान नहीं, अभिशाप बन जाती है। कोरी निवृत्ति भी निकम्मापन लाती है। जब शरीर है, तो निवृत्ति से काम नहीं चल सकता। सक्रियता और निष्क्रियता, चिंतन और अचिंतन, विचार और निर्विचार, विकल्प और निर्विकल्प, स्मृति और विस्मृति, भाषा और अभाषा—इन सबका संतुलन अपेक्षित है। हमारा यह प्रयत्न विकास की प्रतिग्रामी दिशा में जाने का प्रयत्न नहीं है। हमारा सारा प्रयत्न विकास की अग्रिम मंजिल तक जाने का प्रयत्न है। मन मिला, भाषा मिली और हमने विकास की सीमा यहीं तक मान ली। जिसके पास क्रियात्मक मन है, चिंतन की अच्छी शक्ति है, भाषा पर जिसका अधिकार है, हमने यही सीमा मान ली। यह विकास की अंतिम सीमा नहीं है। इससे आगे भी बहुत विकास किया जा सकता है। उसकी बहुत संभावना है, परंतु उस संभावना का द्वार तब तक नहीं खुलता जब तक हम भाषा और मन को समाप्त करने की स्थिति तक नहीं पहुंच जाते। भाषा का न होना, चिंतन का न होना—अविकसित दशा है, किंतु भाषा के होने पर और चिंतन के होने पर भी उनका प्रयोग न करना—विकास की दिशा में पहला प्रस्थान है। जो व्यक्ति अपनी चेतना के नए आयामों को खोलना चाहता है, अपनी चेतना को विस्तार देना चाहता है, उसके लिए यह आवश्यक है कि वह मन होते हुए भी अमन की स्थिति का अनुभव करे। वाक् होते हुए भी अवाक् का अनुभव करे। जब भाषा और मन का प्रयोग रुकता है, तब चेतना का नया द्वार खुलता है।

जब तक चित्त को स्थिर नहीं किया जाता, मन की चंचलता को कम नहीं किया जाता, तब तक भीतर में जो पहुंचना चाहिए—वह नहीं पहुंचता। बदलने की और विकास की क्रिया का पहला सूत्र है—मन को शांत-स्थिर करना। मन की ऐसी स्थिति का निर्माण हो जिसमें चिंतन भी नहीं, कल्पना की तरंग भी नहीं और स्मृति का एक कण भी नहीं। स्मृति-मुक्त, कल्पनामुक्त और चिंतनमुक्त मन का निर्माण हो। यह होने पर भीतर तक जाने वाला प्रत्येक मार्ग साफ हो जाता है। उसमें कोई अवरोध नहीं रहता।

एक प्रश्न है—बदलने के हजारों प्रयत्न चल रहे हैं, फिर भी निष्पत्ति क्यों नहीं आती? इसका एक ही कारण है कि हमने बदलने को शिक्षा का अंग नहीं माना। आज बुद्धि के विकास को शिक्षा का अंग माना जाता है। पर, मन को शिक्षा का विषय बनाया ही नहीं गया। आज की शिक्षा से बुद्धि तो तेज होती है, उसकी धार बहुत तीखी हो जाती है—पर, बेचारी बुद्धि क्या करेगी? जितनी बुराइयां और विकृतियां हैं, वे सब मन की चंचलता से उत्पन्न होती हैं। उनकी उत्पत्ति में बुद्धि का कोई हाथ नहीं है। अतः मन को शिक्षित किए बिना इन विकारों से छुटकारा नहीं पाया जा सकता। आज की शिक्षा में मन को प्रशिक्षित करने का कोई प्रावधान नहीं है। शिक्षा की परिधि में और सब विषय आ गए, पर मन को शिक्षित करने का कोई उपक्रम नहीं आया। जब तक मन प्रशिक्षित नहीं होता तब तक हम व्यक्ति को बदलना चाहें, अच्छा बनाना चाहें—यह कभी संभव नहीं हो सकता। सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है मन को शिक्षित करना। आज की शिक्षा-प्रणाली में यही एक सबसे बड़ी कमी है, उसमें इस ओर ध्यान ही नहीं दिया जाता। आदमी को उसकी भीतरी शक्तियों से परिचित नहीं कराया जाता। कोई भी विद्यार्थी यह नहीं जानता कि उसके भीतर ऐसी शक्ति भी है जो ऐसे समय में काम दे सकती है—जहां शरीर की शक्ति भी व्यर्थ हो जाती है। आज के विद्यार्थी को अपनी प्राणशक्ति की जानकारी नहीं है, उस पर भरोसा नहीं है। आज की शिक्षा पद्धति में प्राण की शक्ति का कोई प्रशिक्षण नहीं है। उस पर विचार भी नहीं किया गया है। प्राण की शक्ति की क्षीणता अनेक समस्याओं को उत्पन्न

करती है। ध्यान की प्रक्रिया का मुख्य उद्देश्य है—प्राणशक्ति की क्षीणता को रोकना, उसकी वृद्धि में सहयोग देना।

आज का आदमी अहिंसा, ब्रह्मचर्य, धर्म और अपरिग्रह को मानता तो है, पर जानता कितना है? प्रश्न होता है कि अहिंसा, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पर इतना बल क्यों दिया जाता है? दूसरा प्रश्न है कि क्या अहिंसा आदमी को कायर बनाती है, ब्रह्मचर्य आदमी को पागल और विक्षिप्त बनाता है, अपरिग्रह आदमी को भिखारी बनाता है? वास्तविकता से देखा जाए, तो ऐसा कुछ नहीं है। इन पर बल देने का एक ही रहस्य है कि आदमी की प्राणशक्ति का व्यय कम हो, वह सुरक्षित रहे, उसका संवर्धन हो। एक प्राणशक्ति बढ़ती है, तो अनेक शक्तियां बढ़ती हैं। प्राणशक्ति के अभाव में कोई भी बड़ी शक्ति विकसित नहीं होती।

कुछेक मनोवैज्ञानिक इस बात में उलझे हुए हैं कि मनुष्य के लिए ब्रह्मचर्य की कोई जरूरत नहीं है। इससे आदमी ग्रथिल होता है। यह भी कहते हैं कि अपरिग्रह की रट ने देश को बहुत गरीब बना डाला है, दरिद्र बना डाला है। पर, हमें दूसरा पहलू भी देखना चाहिए। अब्रह्मचर्य के द्वारा शक्ति का कितना व्यय होता है? प्राणशक्ति का कितना खर्च होता है? आज की पूरी पश्चिमी सभ्यता में जो एक मानसिक विक्षेप आया है, उसका सबसे बड़ा कारण है—यौन की स्वच्छंदता। वहां काम-सेवन पर न सामाजिक प्रतिबंध है और न आंतरिक प्रतिबंध है। उसका परिणाम यह हुआ है कि वहां पागलपन जैसे हालात बढ़ते ही जा रहे हैं। यह निश्चित है कि आदमी जितना अधिक कामुक होगा, शक्ति का उतना ही अधिक क्षरण होगा। जब शक्ति ज्यादा क्षीण होती है। तब चित्त में बेचैनी, पागलपन और अस्त-व्यस्तता व्यापती है। अंततः उस व्यक्ति में शांति की भूख जागती है। वह खोजता है कि शांति कैसे मिले? अशांति है क्या? अशांति और कुछ भी नहीं—शक्ति का जितना अधिक क्षरण होता है, उतनी ही मात्रा में अशांति भीतर जागती है। हिंसा ने आदमी को कितना क्रूर और पागल बनाया है? परिग्रह के चिंतन और ममत्व ने प्राणशक्ति का कितना क्षरण किया है?

प्राणशक्ति के विषय में कोई विचार नहीं हुआ है। हम सब हिंसा-अहिंसा और ब्रह्मचर्य-अब्रह्मचर्य की चर्चा में ही उलझे रह जाते हैं। परिग्रह और अपरिग्रह को वाद-विवाद का विषय बना देते हैं, परंतु इन सबके पीछे जो मूल कारण है, वह है—प्राणशक्ति का क्षरण। इसी तरह चित्त का जितना असंतुलन होगा, जितनी विषमता होगी—प्राणशक्ति का व्यय भी उतना ही अधिक होगा। प्रियता और अप्रियता का संवेदन जितना होगा, प्राणशक्ति का व्यय भी उतना ही अधिक होगा। इसलिए एक सूत्र दिया गया—समता, सामायिक और संतुलन का, ताकि प्रिय-अप्रिय परिस्थिति होने पर मन का संतुलन न बिगड़े, समभाव बना रहे। समभाव और समता से प्राणशक्ति का संवर्धन होता है, संरक्षण होता है।

समभाव का अभ्यास मन का तीसरा आयाम है। आदमी मन के दो आयामों में जीता है। एक है—प्रियता का आयाम और दूसरा है—अप्रियता का आयाम। समता का आयाम उसे कभी नहीं मिला। वह समता के तट पर कभी खड़ा होना नहीं चाहता।

इस प्रकार यथार्थ में शिक्षा का मूल उद्देश्य है—मन का संतुलन, मन की शांति और मन का निर्विकल्प होना। इस ओर कभी ध्यान ही नहीं दिया गया। शिक्षा जगत में शिक्षा का यह मूल उद्देश्य उपेक्षित ही रहा। पूरे शिक्षा जगत पर हम ध्यान दें। आज व्यक्ति पढ़-लिख कर अच्छा वैज्ञानिक बन जाता है, इंजीनियर या डाक्टर बन जाता है, विशेषज्ञ बन जाता है—फिर भी वह अंतर्द्वंद्वों में फंसा रहता है, निंदा और ईर्ष्या में फंसा रहता है, आत्महत्या तक कर लेता है। यह क्यों? यह बड़ा प्रश्न है। अशिक्षित व्यक्ति बुराइयों में फंसे—यह समझ में आ सकता है, परंतु शिक्षित व्यक्ति भी उतनी ही बुराई करे—यह आश्चर्य होता है। तब सवाल उठता है कि शिक्षा से उसे क्या मिला? क्या शिक्षा से वह इतना अनुशासन भी नहीं सीख सका कि अनुकूल-प्रतिकूल स्थिति में अपना संतुलन रख सके? इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि आज शिक्षा का उद्देश्य केवल बौद्धिक प्रश्नों को उभारना और उनका बौद्धिक समाधान दे देना मात्र है। सारी शिक्षा इसी सीमा में चल रही है। तब चरित्र और आचार का आधार क्या बनेगा, यह सोचनीय है।

हम अपेक्षा करते हैं कि आज की शिक्षा से अच्छी पीढ़ी का निर्माण हो, अच्छा समाज बने, बुराइयां कम हों। यह सब चाहते हैं। शिक्षा-शास्त्री भी यही चाहता है

और अभिभावक भी यही चाहता है कि बच्चे सुसंस्कारित बनें, अच्छे बनें, अच्छे नागरिक बनें। किंतु, उन सबकी यह चाह या धारणा सफल नहीं होती। क्योंकि जो मार्ग चुना है, वह सही नहीं है। आज की शिक्षा-प्रणाली की यह सबसे बड़ी विडंबना है।

विद्या की एक शाखा जीवन-विज्ञान है। यह शाखा आदमी की आंतरिक शक्तियों को जगा कर उसके व्यक्तित्व को सर्वांग-सुंदर बना सकती है। आज तक इस शाखा की उपेक्षा होती रही है, हो रही है। जब तक यह उपेक्षा 'अपेक्षा' में नहीं बदलेगी, इसका विकास नहीं होगा—तब तक कष्ट-सहिष्णुता या समता का भाव नहीं आ पाएगा, मनोबल का विकास नहीं हो सकेगा। हम जिस दुनिया में जी रहे हैं, वह संयोग-वियोग की दुनिया है। न जाने प्रतिदिन कितनी करुण घटनाएं घटित होती हैं। दुर्घटनाएं होती हैं। अनेक विकट परिस्थितियां पैदा होती हैं। इस स्थिति में क्या यह संभव है कि हमारी शिक्षा हमें कोई सहारा दे? शिक्षा के साथ यह शिक्षा अवश्य ही जोड़नी होगी। यह शिक्षा है—अपने-आप को देखने की शिक्षा, मनोबल को विकसित करने की शिक्षा, सहिष्णुता को बढ़ाने की शिक्षा।

मैं ज्यों-ज्यों अपनी साधना के अनुभवों से गुजरा, मुझे यह स्पष्ट प्रतीत हुआ कि जब तक काया को नहीं साध लिया जाता, कार्यसिद्धि नहीं कर लेता—तब तक सत्य के शोध की मंजिल तय नहीं होती। यह शरीर को सताने की प्रक्रिया नहीं है, अपितु इसके द्वारा शरीर इतना साध लिया जाता है कि वह हर परिस्थिति को झेल लेता है। श्वास के प्रति जैसे-जैसे जागरूकता होती है, वैसे-वैसे काया की सिद्धि सधती जाती है। श्वास की आंच में तपने वाली काया कभी कच्ची नहीं रहती। भगवान महावीर ने भयंकर कष्ट सहे। अन्यान्य साधकों ने भी कष्ट सहे। क्या वे उन कष्टों का प्रतिकार नहीं कर सकते थे? उनके सामने दो मार्ग थे—एक था सहने का मार्ग और दूसरा था प्रतिकार का मार्ग। उन्होंने सहने के मार्ग को अपनाया। वे कष्टों को सहते गए और सहते-सहते उनका समूचा शरीर चुंबकीय-क्षेत्र बन गया। प्रत्येक साधक चाहता है कि उसे अतींद्रिय ज्ञान की प्राप्ति हो। क्या अतींद्रिय ज्ञान का होना छोटी बात है, कि वह छोटे से प्रयत्न से हो जाए? हम कांच में मुंह देख सकते हैं, क्योंकि यह निर्मल है। पारदर्शी कांच के द्वारा हम पार की वस्तु देख सकते हैं, पर पहले पारदर्शी होना होता है। पारदर्शी अवस्था प्राप्त होने पर पार की वस्तु देखी जा सकती है। अतींद्रिय ज्ञान-चेतना का अर्थ है—पार की वस्तु को प्रत्यक्ष देख लेना। पार की चेतना तब जागेगी, जब पूरा शरीर चुंबकीय-क्षेत्र बन जाएगा।

वैज्ञानिकों ने यह तथ्य प्रकट कर दिया है कि आदमी जब तक अपने शरीर के विशिष्ट केंद्रों को चुंबकीय-क्षेत्र नहीं बना लेता—'इलेक्ट्रोमेग्नेटिक फील्ड'—नहीं बना लेता, तब तक उसमें पारदर्शन की क्षमता नहीं जाग सकती। चैतन्य-केंद्रों और चक्रों की सारी कल्पना का मूल उद्देश्य है—शरीर को चुंबकीय-क्षेत्र बना लेना। सहिष्णुता और समभाव वृद्धि के प्रयोग, उपवास, आसन, प्राणायाम, आतापना, सर्दी-गर्मी को सहने का अभ्यास इन सारी प्रक्रियाओं से शरीर के परमाणु चुंबकीय-क्षेत्र में बदल जाते हैं और वह क्षेत्र इतना पारदर्शी बन जाता है कि उस क्षेत्र से भीतर की चेतना बाहर झांक सकती है। जीवन-विज्ञान की शिक्षा के द्वारा चेतना का यह आयाम उद्घाटित हो सकता है।

जीवन-विज्ञान की शिक्षा का तात्पर्य है—मन को शिक्षित करना, वाणी को शिक्षित करना, काया को शिक्षित करना। शरीर को शिक्षित करने का तात्पर्य है—एक ही आसन में लंबे समय तक बैठे रहने की क्षमता प्राप्त कर लेना, आसन-सिद्धि कर लेना। वाणी को शिक्षित करने का अर्थ है—अंदर कितनी ही तरंगें उठें, पर बोलने की कोई धारा का नहीं होना। इसी प्रकार मन को शिक्षित करने का अर्थ है—अनर्गल स्मृति, कल्पना और चिंतन से बचना।

आजकल अंतरिक्ष की यात्राएं होने लगी हैं। अंतरिक्ष यात्री को योग का प्रशिक्षण दिया जाता है। क्योंकि वहां उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। जो व्यक्ति केवल प्रवृत्ति में होता है, वह व्यक्ति उन कठिनाइयों का सामना नहीं कर सकता। अंधेरे को सहन करना, अकेलेपन को सहन करना, अकेले में उदास न होना, पागल न होना, बहुत संयत रहना—ये सारी स्थितियां योग साधना के बिना संभव नहीं हो सकतीं, इसलिए योग का प्रशिक्षण देना अनिवार्य हो जाता है।

क्या जीवन की यह दीर्घ यात्रा अंतरिक्ष यात्रा से कम है? अंतरिक्ष यात्रा में दस-बीस-पचास दिन लग

जाते हैं, पर जन्म से मृत्यु तक की यात्रा, 70-80 वर्ष की यात्रा बहुत लंबी होती है। एक ही जीवन में हजारों बार की अंतरिक्ष यात्राएं समाप्त हो जाती हैं। इस जीवन-यात्रा में कितनी कठिनाइयां आती हैं? उस अवस्था में हम असहाय होते हैं, क्योंकि आज की शिक्षा से दिमाग में और-और तत्त्व तो भर दिए जाते हैं, किंतु असहाय की स्थिति होने पर उससे लोहा लेने की बात नहीं सिखाई जाती। आदमी घुटने टेक देता है और नष्ट हो जाता है। यह कहा जा सकता है कि आज की शिक्षा-पद्धति ने आदमी को केवल भागना सिखाया है।

एक अध्यापक अपने विद्यार्थी को लड़ने के दांव-पेच सिखा रहा था। पूछने पर उस अध्यापक ने कहा—मैंने अपने विद्यार्थी को लड़ने के लिए नौ महत्त्वपूर्ण दांव-पेच सिखा दिए हैं। दूसरे ने पूछा—यदि कोई तगड़ा व्यक्ति इससे आ भिड़ेगा तो यह क्या करेगा? अध्यापक बोला—वह गुर भी मैंने बता दिया है कि जब ऐसी असहाय स्थिति आए तब नौ-दो ग्यारह हो जाना, पलायन कर जाना। यह दसवीं कला है।

क्या यह कला बहुत अच्छी है? जो लोग आज शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं, कुछ सीख रहे हैं, वे दसवां दांव ही अधिक सीख रहे हैं। वे सीखते हैं कि जो भी समस्या आए, उसका सामना मत करो, पलायन कर दो, भाग जाओ, घुटने टेक दो। आदमी की मूंछ ऊपर तनी हुई रहे तो क्या और नीचे झुकी रहे तो क्या! क्या अंतर पड़ता है!

ध्यान कोई अटपटी प्रक्रिया नहीं है। यह जीवन-विज्ञान की शिक्षा का अनिवार्य अंग है। जो व्यक्ति मन को शिक्षित करना जान लेता है, कठिनाइयों को झेलना सीख लेता है, परिस्थितियों में अडिग खड़ा रहना सीख लेता है, घुटने नहीं टेकता—वही व्यक्ति यथार्थ में ध्यान का अधिकारी होता है। वही वास्तव में ध्यान कर सकता है, वही ध्यान में सफल हो सकता है।

शिक्षा के द्वारा मनुष्य शिक्षित कहलाता है और वह सर्वत्र आदर पाता है। वह आदरास्पद होता है। हमें इसके साथ यह भी जोड़ देना है कि ज्ञानी की अपेक्षा चरित्रवान व्यक्ति अधिक आदरास्पद होता है। ज्ञानी के प्रति अंगुलियां उठ सकती हैं, किंतु चरित्रवान के प्रति सहजतया अंगुलियां नहीं उठतीं। उसके प्रति सहज आदर भाव होता है।

हमारे समक्ष दो दिशाएं हैं। एक है ज्ञान की दिशा और दूसरी है चरित्र की दिशा। इन दोनों में महत्त्वपूर्ण है—चरित्र का विकास। चरित्र का विकास जीवन-विज्ञान की शिक्षा के बिना संभव नहीं है। ध्यान और कुछ नहीं है—वह है जीवन-विज्ञान की शाखा को विकसित करना, अपने-आप को जानना, अपने मन को शिक्षित करना, अपनी सहिष्णुता की शक्ति को बढ़ाना। हमारे भीतर सहन करने की अनंत शक्ति विद्यमान है। उसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते।

अतः हमारे लिए बाह्य-जगत और अंतर-जगत में संतुलन स्थापित करना आवश्यक है। बाह्य-जगत और अंतर-जगत—दोनों वास्तविक हैं। दोनों को स्वीकार करना है। व्यवहार को भी स्वीकार करना है और निश्चय को भी स्वीकार करना है। दोनों के बीच संतुलन स्थापित करना ही ध्यान है। यह जीवन का विज्ञान है और यह शिक्षा-प्रणाली का अनिवार्य अंग होना चाहिए। ❖

क्रमशः शेष अगले अंक में

क्या मेरा इस धरती पर होना अपने में संपूर्ण है? मैं अकसर यह प्रश्न अपने से पूछता हूं। यदि गौतम बुद्ध बारह वर्ष समाधि में रह कर कोई सत्य, सत्य का दर्शन उपलब्ध कर पाए तो अवश्य ही वह दर्शन अपने में संपूर्ण रहा होगा। यदि ऐसा था तो उन्हें सारनाथ में चार आदमियों के सम्मुख अपना संदेश देने की क्यों जरूरत महसूस हुई? क्या कहीं उनकी आत्मोपलब्धि संपूर्ण होने पर भी आत्मशंकित, अप्रमाणित थी? क्या ऐसा नहीं था कि बुद्ध का दर्शन केवल अपने संदेश में ही संपूर्ति पा सकता था? तपस्या में पाया हुआ आलोक जब एक–दूसरे के अंधेरे को न छूता तब तक वह प्रकाश न ग्रहण कर पाता। दूसरे का अंधेरा ही उनके आलोक की कसौटी बन सकता था। संवाद हम दूसरों से करते हैं—दूसरों के लिए नहीं—स्वयं अपने को पहचानने के लिए। इसलिए वह आत्मा की जरूरत है। इसीलिए वह स्वार्थ और परमार्थ से ऊपर उठ कर जीने की अनिवार्य शर्त और मर्यादा बन जाता है।

—निर्मल वर्मा

भारतवर्ष में अपनी समृद्ध संस्कृति को उजागर करने के लिए देशी भाषाओं को प्रोत्साहन देना जरूरी है। विदेशी भाषा में शिक्षा पाने से हमारा स्वतंत्र चिंतन कुंठित हो गया है। समूचे राष्ट्र के सांस्कृतिक अभ्युत्थान के लिए भी हमें अपनी भाषाओं को समृद्ध करना आवश्यक है। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद बहुत-सी बाधाओं और कठिनाइयों के होते हुए भी प्रादेशिक भाषाएं उन्नति कर रही हैं—यह प्रसन्नता की बात है। हिंदी भी सार्वदेशिक भाषा के रूप को प्राप्त कर रही है। अनेक विश्वविद्यालयों में एम. ए. तक की पढ़ाई हिंदी में होने लगी है, लेकिन अभी भी बहुत प्रयत्न की आवश्यकता है। जब तक आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के हर क्षेत्र में उत्तम साहित्य का निर्माण नहीं होता, तब तक भाषा संबंधी परमुखापेक्षिता बनी रहेगी। आशा की जाती है कि शीघ्र ही हमारी देशी भाषाएं इस प्रकार के साहित्य से समृद्ध हो जाएंगी और हिंदी तो विशेष रूप से समृद्ध हो जाएगी। स्वराज्य तभी सार्थक होगा जब स्वभाषा की उन्नति होगी। जिस भाषा के माध्यम से साधारण जनता तक ज्ञान-विज्ञान पहुंच सकता है—उसकी उपेक्षा करना बहुत हानिप्रद होगा।

भाषा : नैतिक निष्ठा के विकास की वाहक

❑ आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ❑

हमने अपने देश में लोकतांत्रिक शासन-व्यवस्था को स्वीकार किया है। लोकतांत्रिक शासन-व्यवस्था का अर्थ यह होता है कि हमारे देश की जनता के चुने हुए लोग देश में कानून और व्यवस्था का संचालन करें। यह शासन-व्यवस्था जनता के द्वारा स्थापित होती है और जनता के हित के लिए कार्य करती है। हमारे देशवासियों की प्रकृति के अनुसार और उसके ऐतिहासिक विकास को दृष्टि में रखते हुए ऐसे नियम बनाने पड़ते हैं जो ठीक उसी प्रकार बने हुए अन्य देशों के नियमों से कुछ भिन्न होते हैं।

हमारे देश का इतिहास हजारों वर्ष पुराना है। इसमें विभिन्न धर्मों, संप्रदायों, नस्लों और जातियों के लोग बसते हैं। उनकी अपनी परंपराएं भी कुछ अलग-अलग हैं। इस प्रकार हमारे राष्ट्र में विविधताएं और वैचित्र्य हैं। अलग-अलग समुदाय के धार्मिक विश्वास, पूजा-पद्धति, भाषा आदि में भी अंतर दिखाई देता है। ऐसी स्थिति में एक सामान्य राष्ट्रीय हित का मार्ग खोजना कठिन हो जाता है। हमारे लोकतंत्र ने इस कठिन मार्ग को ही अपनाया है। इसके लिए हमारी संविधान-सभा ने धर्म-निरपेक्ष लोकतांत्रिक व्यवस्था का मार्ग निकाला है। इसका अर्थ यह है कि हम यह संकल्प कर चुके हैं कि किसी समुदाय-विशेष के धार्मिक विश्वासों में राज्य की ओर से कोई हस्तक्षेप नहीं होगा। सबको अपने-अपने मार्ग पर चलने की स्वतंत्रता होगी। राज्य किसी एक धर्म को मान्यता नहीं देगा और सभी धर्मों के उन महान आदर्शों को अपनाया करेगा जो मानवता के पोषक और

उन्नायक हैं। यह मार्ग कठिन है। इसमें सहनशीलता, उदारता और धैर्य के साथ सभी काम करने जरूरी हैं। कठिन होते हुए भी यही मार्ग मनुष्यता का सही मार्ग है।

इसमें भाषा संबंधी समस्या कुछ अधिक जटिल है। बहुत विचार के बाद हमारे देश के संविधान में शुरुआत में चौदह मुख्य भाषाओं को मान्यता दी गई। इनमें एक संस्कृत भी है। संस्कृत हमारे देश की बड़ी शक्तिशाली और समृद्ध भाषा रही है। हजारों वर्षों के इतिहास में पीढ़ियों तक देश के सर्वोत्तम विचारकों ने इस भाषा में अपने विचार लिपिबद्ध कर रखे हैं। इसलिए संस्कृत को देश की मुख्य भाषाओं में स्थान देना उचित ही हुआ है। बाकी तेरह भाषाएं देश के विभिन्न भागों में बोली जाती हैं। ये सभी भाषाएं हमारे राष्ट्र की संपत्ति हैं। इसलिए इन सबकी समृद्धि से ही समूचे राष्ट्र की समृद्धि संभव है।

भाषा की समृद्धि उत्तम साहित्य से होती है। भाषा की समृद्धि से उसके बोलने वालों का जीवन-स्तर ऊंचा उठता है, उनमें कार्य-कारण परंपरा को सही-सही समझने की शक्ति विकसित होती है और उनके चरित्र में नैतिक निष्ठा का विकास होता है। राष्ट्र के सामूहिक सांस्कृतिक स्तर को ऊंचा उठाने का यह सर्वोत्तम उपाय है।

जो सरकार जनता के द्वारा चुनी जाती है, उसमें जनता की भाषा का प्राधान्य होना स्वाभाविक ही है। परंतु पिछले डेढ़-दो सौ वर्षों में हम एक पराधीन राष्ट्र के रूप में जीते रहे हैं। अंग्रेजों ने इस देश की शासन-व्यवस्था के लिए अंग्रेजी भाषा को सारे देश में प्रचलित किया था और हमारी अपनी भाषाओं का विकास रुद्ध हो गया था। अंग्रेजी भाषा द्वारा शासन-व्यवस्था चलाने का परिणाम यह हुआ है कि हमारे देशवासियों को, जो भिन्न-भिन्न भाषाएं बोलते हैं—एकसूत्र में बांधने का काम अंग्रेजी ही करने लगी है, हालांकि विदेशी भाषा होने के कारण वह देश की विशाल जनता में ठीक से रींज-पींज नहीं सकी है। यही कारण है कि देश को एकसूत्र में बांधने में वह कमजोर सिद्ध हुई।

अंग्रेजी भाषा बहुत समृद्ध भाषा है और आजकल संसार के कई समृद्ध देशों में राजभाषा के रूप में भी स्वीकृत है। पर, है यह विदेशी भाषा ही और देश की समूची जनता का एक नगण्य अंश ही उसमें कुशलता प्राप्त कर सका है। जनता का राज्य होने पर भी सारी जनता यदि अपनी भाषा में शासन-तंत्र और न्याय-व्यवस्था को चलाने का अधिकार नहीं प्राप्त कर सकती तो लोकतांत्रिक व्यवस्था निश्चित रूप से कमजोर हो जाती है। संविधान बनाने वाले नेताओं के मन में यह प्रश्न बहुत प्रमुख रूप में उपस्थित था। इसको हल करने के लिए उन्होंने अपने देश की भाषा को ही चुना जो विभिन्न राज्यों के आपसी व्यवहार की भाषा पहले से ही बनी हुई है। यह भाषा हिंदी है। देश की लगभग आधी जनता इस भाषा को बोल या समझ लेती है। इसलिए ऐसा निश्चय किया गया है कि विभिन्न राज्यों में तो अपनी-अपनी भाषाएं शासन-व्यवस्था के लिए काम में लाई जाएं, परंतु सारे देश के लिए और राज्यों के पारस्परिक संबंध के लिए हिंदी भाषा का प्रयोग किया जाए। ऐसा करने से ही देश में हर अर्थ में लोकतांत्रिक शासन-व्यवस्था कायम होगी।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद देश में भाषाओं की प्रगति में काफी तेजी आई है। कई राज्यों ने अपने राज-काज के लिए अपने क्षेत्र में बोली जाने वाली भाषा को स्थान दिया है और विश्वविद्यालयों में भी तेजी से देशी भाषाएं माध्यम के रूप में व्यवहृत होने लगी हैं। परंतु, अंग्रेजी अभी बनी हुई है। उसे एकदम हटा देने में भी कठिनाई है। धीरे-धीरे देशी भाषाएं अपना उपयुक्त स्थान प्राप्त करती जा रही हैं और हिंदी के प्रचार का भी थोड़ा-बहुत प्रयत्न हो रहा है। जब तक हमारी अपनी भाषाएं समृद्ध नहीं हो जातीं, तब तक लोकतांत्रिक व्यवस्था कमजोर ही बनी रहेगी।

भारतवर्ष में अपनी समृद्ध संस्कृति को उजागर करने के लिए देशी भाषाओं को प्रोत्साहन देना जरूरी है। विदेशी भाषा में शिक्षा पाने से हमारा स्वतंत्र चिंतन कुंठित हो गया है। समूचे राष्ट्र के सांस्कृतिक अभ्युत्थान के लिए भी हमें अपनी भाषाओं को समृद्ध करना आवश्यक है।

स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद बहुत-सी बाधाओं और कठिनाइयों के होते हुए भी प्रादेशिक भाषाएं उन्नति कर रही हैं—यह प्रसन्नता की बात है। हिंदी भी सार्वदेशिक भाषा के रूप को प्राप्त कर रही है। अनेक विश्वविद्यालयों में एम. ए. तक की पढ़ाई हिंदी में होने लगी है, लेकिन अभी भी बहुत प्रयत्न की आवश्यकता है। जब तक आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के हर क्षेत्र में उत्तम साहित्य का निर्माण नहीं होता, तब तक भाषा संबंधी परमुखापेक्षिता बनी रहेगी। आशा की जाती है कि शीघ्र ही हमारी देशी भाषाएं इस प्रकार के साहित्य से समृद्ध हो जाएंगी और हिंदी तो विशेष रूप से समृद्ध हो जाएगी।

शेष पृष्ठ 22 पर

व्यक्ति विभिन्न इकाइयों से मिल कर बना है, परंतु इन भिन्नताओं पर जोर देने और किसी निश्चित ढांचे के विकास को प्रोत्साहित करने से अनेक प्रकार की जटिलताओं एवं अंतर्विरोधों का जन्म होगा। शिक्षा को इन पृथक इकाइयों में समन्वय लाना चाहिए, क्योंकि बिना समन्वय के जीवन दुखों और द्वंद्वों की शृंखला बन जाता है। वकील के रूप में हमारे प्रशिक्षित होने से क्या लाभ, यदि हमें मुकदमेबाजी को ही प्रोत्साहित करना है? यदि हमें अपनी भ्रांति में ही बने रहना है तो ज्ञान का क्या अर्थ है? तकनीकी और औद्योगिक क्षमताओं का मतलब ही क्या है, यदि हमें उनका प्रयोग एक-दूसरे को नष्ट करने के लिए करना है? हमारे अस्तित्व का क्या अर्थ है, यदि उसका परिणाम हिंसा एवं अधिकाधिक कष्ट ही है? हालांकि हमारे पास संपत्ति है या उसको अर्जित करने की क्षमता है, हमारे अपने भोग-विलास हैं और संगठित धर्म भी हैं, फिर भी हम एक ऐसे द्वंद्व में पड़े हैं, जिसका कोई अंत नहीं है।

शिक्षा का तात्पर्य : शांति और सामंजस्य

❑ जे. कृष्णमूर्ति ❑

कोई व्यक्ति जब विश्व में चारों ओर भ्रमण करता है तो वह देखता है कि चाहे भारत हो या अमेरिका, यूरोप हो या आस्ट्रेलिया, सभी जगह किस हद तक मानव स्वभाव एक समान है। महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों के संदर्भ में तो यह एकदम सच है। मानो किसी सांचे में हम एक खास किस्म के मनुष्य को ढालते जा रहे हैं जिसकी प्रमुख रुचि सुरक्षा की खोज है, या किसी महत्त्वपूर्ण पद को पाना है, अथवा बुद्धि और विवेक का कम-से-कम प्रयोग करते हुए मौज-मस्ती में समय बिताना है।

परंपरागत शिक्षा स्वतंत्र चिंतन को असंभव बना देती है। अनुकरण औसत दर्जे की मानसिकता पैदा करता है। किसी समूह से भिन्न होना अथवा परिवेश का प्रतिरोध करना सरल नहीं है और जब तक हम सफलता की उपासना में जुटे हैं, यह खतरनाक भी है। सफल होने की उत्कंठा, यानी पुरस्कार पाने की दौड़ में लगे रहना—चाहे वह भौतिक क्षेत्र में हो या तथाकथित आध्यात्मिक क्षेत्र में—अर्थात् आंतरिक या बाह्य सुरक्षा की खोज, सुख-सुविधाओं की कामना—यह सारी-की-सारी प्रक्रिया असंतोष को कुंठित करने के साथ-साथ सहजता का अंत कर देती है और भय के बीज बोती है और भय जीवन को विवेकपूर्ण ढंग से समझने में बाधक बनता है। बढ़ती हुई आयु के साथ मन और हृदय भी स्फूर्तिहीन होने लगते हैं।

होता यह है कि सुख-सुविधा की खोज में हम जीवन का कोई शांत कोना खोज लेते हैं, जहां न्यूनतम द्वंद्व हो और तब उस एकांत कोने से बाहर निकलने में हमें डर लगता है। जीवन का यह भय, संघर्ष एवं नवीन अनुभवों का यह भय, हमारे अंदर साहसी उपक्रमों की भावना नष्ट कर देता है। हमारे समस्त पालन-पोषण तथा

शिक्षा के कारण हम अपने पड़ोसी से भिन्न होने से डरते हैं, समाज के प्रचलित तौर-तरीकों के विपरीत सोचने से डरते हैं। हम सत्ता, प्रामाण्य और परंपरा का झूठा सम्मान करते हैं।

सौभाग्य से कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं जो गंभीर हैं। वे पूर्वाग्रहों के बिना ही हमारी मानवीय समस्याओं की छानबीन करने की इच्छा रखते हैं और उसके लिए तैयार रहते हैं, परंतु हममें से अधिकांश व्यक्तियों में असंतोष या विद्रोह की कोई वास्तविक प्रवृत्ति नहीं होती है। जब हम परिवेश के प्रति, बिना उसे समझे ही, आत्म-समर्पण कर देते हैं तो विद्रोह की जो भी भावना हमारे अंदर होती है—मुरझा जाती है और हमारी जिम्मेदारियां शीघ्र ही उसे खत्म कर देती हैं।

विद्रोह दो प्रकार का होता है। एक तो हिंसात्मक विद्रोह, जो स्थापित व्यवस्था के विरोध में बिना समझे-बूझे की हुई एक प्रतिक्रिया-मात्र होता है और दूसरा विवेकजन्य गहरा मनोवैज्ञानिक विद्रोह। ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जो स्थापित रूढ़िवादी व्यवस्थाओं के खिलाफ विद्रोह तो करते हैं, लेकिन फिर नई किस्म की रूढ़िवादी व्यवस्थाओं, नई भ्रांतियों एवं अप्रकट आत्म-तुष्टीकरणों में फंसते ही जाते हैं। प्रायः ऐसा होता है कि हम एक तरह के आदर्शों को छोड़ कर दूसरी तरह के आदर्शों को अपना लेते हैं और इस प्रकार विचारों की एक नवीन व्यवस्था-प्रणाली का सृजन करते हैं, जिसके प्रति पुनः विद्रोह करना पड़ता है। सुधार में और सुधार की हमेशा जरूरत रहती है। प्रतिक्रिया से तो केवल विरोध ही उपजता है।

परंतु, एक ऐसा भी विवेकपूर्ण विद्रोह होता है जो प्रतिक्रिया-मात्र नहीं होता और जो अपने विचारों और भावनाओं के प्रति सजगता से उत्पन्न आत्मबोध के साथ आता है। केवल तभी हम अपनी प्रज्ञा को अत्यधिक जाग्रत अवस्था में रख सकते हैं, जब हम जो-कुछ भी हो रहा है, उसका सामना करते हैं और परेशानियों से बचने का यत्न नहीं करते। सर्वाधिक जाग्रत प्रज्ञा ही अंतश्चेतना होती है, यही जीवन में वास्तविक मार्ग-निर्देशक होती है।

जीवन का महत्त्व क्या है? हम जीवित क्यों हैं, क्यों संघर्ष कर रहे हैं? यदि हम मात्र कोई विशेष योग्यता पाने के लिए, अच्छी नौकरी पाने के लिए, अधिक कार्यकुशल होने के लिए, दूसरों पर अधिकाधिक आधिपत्य जमाने के लिए शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं तो हमारा जीवन छिछला और खोखला होगा। यदि हम केवल वैज्ञानिक बनने के लिए, पुस्तकों में लीन विद्वान होने के लिए या ज्ञान के व्यसन में पड़ा कोई विशेषज्ञ बनने के लिए शिक्षित हो रहे हैं, तो हम विश्व में विनाश और दुख ही लाएंगे।

जीवन का गहन और व्यापक तात्पर्य है अवश्य, लेकिन यदि हम इस तात्पर्य को कभी खोजते ही नहीं तो हमारी शिक्षा किस काम की? हम बहुत अधिक शिक्षित हो सकते हैं, परंतु यदि हमारे विचार और भावना में गहरा समन्वय नहीं है तो हमारा जीवन अपूर्ण एवं अंतर्विरोधी होगा तथा हम भय से पीड़ित होंगे और जब तक शिक्षा जीवन के प्रति इस समन्वित दृष्टिकोण को नहीं विकसित करती, उसका महत्त्व न के बराबर है।

अपनी वर्तमान सभ्यता में जीवन को हमने इतने अधिक विभागों में बांट दिया है कि शिक्षा का इससे अधिक और कोई अर्थ नहीं रह गया कि उससे केवल हम कोई विशेष तकनीक या व्यवसाय सीख लें। व्यक्ति की समन्वित प्रज्ञा को जाग्रत करने के स्थान पर शिक्षा उसे किसी सांचे के अनुरूप बनने के लिए प्रोत्साहित करती है और इस प्रकार स्वयं को एक समग्र प्रक्रिया के रूप में देखने-समझने में बाधक बनती है। अस्तित्व की अनेक समस्याओं का उनके अपने-अपने स्तरों पर ही समाधान करने का प्रयत्न करना, मानो वे भिन्न-भिन्न वर्ग-कोटियों में बंटी हुई हों, इस तथ्य की ओर इशारा है कि हमने उन्हें बिल्कुल समझा ही नहीं है।

व्यक्ति विभिन्न इकाइयों से मिल कर बना है, परंतु इन भिन्नताओं पर जोर देने और किसी निश्चित ढांचे के विकास को प्रोत्साहित करने से अनेक प्रकार की जटिलताओं एवं अंतर्विरोधों का जन्म होगा। शिक्षा को इन पृथक इकाइयों में समन्वय लाना चाहिए, क्योंकि बिना समन्वय के जीवन दुखों और द्वंद्वों की शृंखला बन जाता है। वकील के रूप में हमारे प्रशिक्षित होने से क्या लाभ, यदि हमें मुकदमेबाजी को ही प्रोत्साहित करना है? यदि हमें अपनी भ्रांति में ही बने रहना है तो ज्ञान का क्या अर्थ है? तकनीकी और औद्योगिक क्षमताओं का मतलब ही क्या है, यदि हमें उनका प्रयोग एक-दूसरे को नष्ट करने के लिए करना है? हमारे अस्तित्व का क्या अर्थ है, यदि उसका परिणाम हिंसा एवं अधिकाधिक कष्ट ही है?

हालांकि हमारे पास संपत्ति है या उसको अर्जित करने की क्षमता है, हमारे अपने भोग-विलास हैं और संगठित धर्म भी हैं, फिर भी हम एक ऐसे द्वंद्व में पड़े हैं, जिसका कोई अंत नहीं है।

हमें व्यक्तिगत और व्यष्टिगत में जो भेद है, उसे समझना चाहिए। जो व्यक्तिगत है, वह आकस्मिक है—आकस्मिक से मेरा तात्पर्य जन्म की परिस्थितियां और वह परिवेश है जिसमें हमारा पोषण हुआ है। जिसमें राष्ट्रीयता, अंधविश्वास, वर्ग-भेद तथा पूर्वाग्रह निहित हैं। व्यक्तिगत अथवा आकस्मिक क्षणिक मात्र है, हालांकि वह क्षण जीवन भर खींचा जा सकता है और चूंकि शिक्षा की वर्तमान व्यवस्था इस व्यक्तिगत, आकस्मिक एवं क्षणिक पर ही आधारित है, इसलिए यह विचारों की भ्रष्टता को तथा आत्मसुरक्षात्मक भयों को बढ़ावा देती है।

हममें से सभी को शिक्षा ने तथा परिवेश ने इसी बात के लिए प्रशिक्षित किया है कि हम व्यक्तिगत लाभ और सुरक्षा खोजें और अपने लिए संघर्ष करें। हालांकि हम उसे अलंकृत शब्दावलियों से ढंके रहते हैं, परंतु हमें विभिन्न व्यवसायों के लिए एक ऐसी व्यवस्था के अंतर्गत शिक्षित किया गया है, जो शोषण पर और संचय में निहित भय पर आधारित है। ऐसे प्रशिक्षण का परिणाम निस्संदेह विश्व में तथा अपने अंदर दुख और भ्रांति पैदा करना ही होगा, क्योंकि यह प्रत्येक व्यक्ति में उन मानसिक अवरोधों को पैदा करता है जो उसे दूसरों से अलग किए रहते हैं।

मन को प्रशिक्षित करना ही शिक्षा नहीं है। प्रशिक्षण कार्यकुशलता तो लाता है, पर वह पूर्णता नहीं लाता। जो मन केवल प्रशिक्षण में ही रहा हो, वह वास्तव में अतीत को ही ढो रहा होता है। ऐसा मन कभी भी 'नवीन' की खोज नहीं कर सकता। इसी कारण उचित शिक्षा क्या है, यह जानने के लिए हमें जीवन-प्रक्रिया के संपूर्ण तात्पर्य की जांच करनी पड़ेगी।

हममें से अधिकांश व्यक्तियों के लिए इसका कोई मूलभूत महत्त्व नहीं है कि समग्र रूप में जीवन का क्या अर्थ है। हमारी शिक्षा सतही मूल्यों पर ही जोर देती है तथा ज्ञान के किसी खास हिस्से में ही वह हमें कार्यकुशल बनाती है। हालांकि ज्ञान तथा कार्यकुशलता आवश्यक हैं, तथापि केवल उन्हीं को विशेष महत्त्व देने से भ्रांति तथा द्वंद्व पैदा होता है।

कार्यकुशलता यदि प्रेम से प्रेरित है तो वह काफी दूर तक प्रभावी होती है और यह महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित कार्यक्षमता से कहीं श्रेष्ठ होती है। जबकि जीवन के समन्वित बोध को जन्म देने वाले प्रेम के अभाव में कार्यकुशलता कठोरता को ही जन्म देती है। क्या विश्व में सर्वत्र प्रेम-विहीन कार्यक्षमता का ही विकास नहीं हो रहा? हमारी वर्तमान शिक्षा को औद्योगीकरण तथा युद्ध के अनुकूल बनाया गया है, उसका मुख्य लक्ष्य कार्यक्षमता का विकास करना है और हम हृदयहीन प्रतिद्वंद्विता तथा परस्पर-विनाश की इस मशीन में फंस कर रह गए हैं। यदि शिक्षा युद्ध की ओर ले जाती है, यदि यह हमें नष्ट करना अथवा नष्ट होना सिखाती है तो क्या वह पूर्णतया असफल नहीं हुई है?

स्पष्ट है कि उचित शिक्षा को संभव बनाने के लिए हमें जीवन के अर्थ को उसकी समग्रता में समझना पड़ेगा और उसके लिए आवश्यक है कि हम सीधे और सच्चे तौर पर विचार कर सकें, न कि केवल सुसंगत, तार्किक ढंग से। दृढ़ता और सुसंगत ढंग से सोचने वाला व्यक्ति विचारहीन होता है, क्योंकि वह किसी प्रारूप का अनुयायी होता है, वह वाक्यों को दोहराता है तथा एक लीक पर ही सोचता है। अस्तित्व को निष्कर्षों या सिद्धांतों में नहीं समझा जा सकता। जीवन को समझने का अर्थ स्वयं अपने को समझना है और यही शिक्षा का आरंभ है और अंत भी।

जानकारी इकट्ठी करना एवं तथ्यों को बटोर कर उन्हें आपस में मिलाना ही शिक्षा नहीं है। शिक्षा तो जीवन के अभिप्राय को उसकी समग्रता में देखना-समझना है। परंतु, किसी समग्रता को उसके टुकड़ों के माध्यम से नहीं देखा जा सकता, जबकि सरकारें, संगठित धर्म एवं सत्तावादी दल—सभी यही करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

शिक्षा का कार्य ऐसे मनुष्य तैयार करना है जो पूर्ण, समन्वित हों—अर्थात् प्रज्ञाशील हों। हम बिना प्रज्ञाशील हुए भी डिग्री प्राप्त कर सकते हैं तथा यांत्रिक रूप से सक्षम हो सकते हैं। प्रज्ञाशीलता का अर्थ तथ्यसंग्रह नहीं है, वह पुस्तकों से नहीं आती और न ही चालाक आत्मसमर्थक प्रतिक्रियाओं या आक्रामक आग्रहों में निहित होती है। विद्वानों की अपेक्षा एक साधारण आदमी, जिसने अध्ययन नहीं किया है, अधिक विवेकपूर्ण हो सकता है। हमने परीक्षाओं और उपाधियों

को प्रज्ञा का मापदंड बना लिया है और चालाकी से भरे ऐसे मन को विकसित किया है, जो महत्त्वपूर्ण मानवीय समस्याओं की उपेक्षा करता है, उनसे बच निकलता है। मौलिक, सारभूत यानी जो है को पूर्ण रूप से देख पाने की क्षमता प्रज्ञाशीलता है तथा स्वयं में और दूसरों में इस क्षमता को जगाने का अर्थ है—शिक्षा।

शिक्षा को गहरे जीवन-मूल्यों की खोज में हमारी सहायता करनी चाहिए, ताकि हम फार्मूलों से ही न चिपके रहें या नारों को ही न दोहराते रहें, राष्ट्रीय और सामाजिक अवरोधों पर बल देने के बजाय उन्हें तोड़ने में उसे हमारी सहायता करनी चाहिए, क्योंकि वे मानव-मानव के बीच शत्रुता पैदा करते हैं। दुर्भाग्य से शिक्षा की वर्तमान व्यवस्था हमें गुलाम, यंत्रवत और घोर विचारहीन बना रही है। हालांकि बौद्धिक रूप से वह हमें जगाती है, परंतु आंतरिक रूप से वह हमें अपूर्ण, कुंठित और यंत्रवत बना डालती है, जिसमें सृजनशीलता के लिए कोई स्थान नहीं रहता।

जीवन को बिना समन्वित रूप में समझे हमारी व्यक्तिगत तथा सामूहिक समस्याएं और अधिक गंभीर और व्यापक ही होती जाएंगी। शिक्षा का लक्ष्य केवल विद्वानों, 'टेक्नीशियनों' तथा नौकरी की तलाश में लगे लोगों को तैयार करना नहीं है। उसका लक्ष्य ऐसे पूर्ण स्त्री एवं पुरुष बनाना है जो भय से मुक्त हों, क्योंकि केवल ऐसे ही व्यक्तियों के बीच में स्थाई शांति संभव है।

स्वयं को समझने के साथ ही भय का अंत होता है। यदि क्षण-क्षण व्यक्ति को जीवन का सामना करना है, उसकी जटिलताओं, उसके दुखों और उसकी आकस्मिक आवश्यकताओं का सामना करना है, तो उसे अपरिमित रूप से विनम्र होना होगा, सिद्धांतों से तथा विचार के खास प्रारूपों से भी मुक्त होना होगा।

शिक्षा का कार्य व्यक्ति को न तो समाज के अनुरूप बनने के लिए प्रोत्साहित करना है और न ही समाज के साथ नकारात्मक सामंजस्य लाने के लिए। वास्तविक जीवन मूल्यों की खोज में व्यक्ति की सहायता करना ही शिक्षा का कार्य है और ये मूल्य निष्पक्ष अन्वेषण तथा आत्म-सजगता से ही आते हैं। आत्मबोध के अभाव में आत्म-अभिव्यक्ति अहंकार बन जाती है और उसके साथ तमाम आक्रामक एवं महत्त्वाकांक्षी द्वंद्व पैदा हो जाते हैं। शिक्षा का कार्य आत्म-सजगता की क्षमता को जाग्रत करना है, न कि तुष्टीकरण वाली आत्माभिव्यक्ति में लिप्त करना।

यदि जिंदगी जीते-जीते हम खुद को ही तबाह करने जा रहे हैं, तो ऐसी पढ़ाई से क्या लाभ? विनाशकारी युद्धों की श्रृंखला को देख कर यह जाहिर है कि जिस प्रकार हम बच्चों का पालन-पोषण कर रहे हैं, उसमें कोई मौलिक दोष है। मैं समझता हूं कि हममें से अधिकांश व्यक्ति इस बात से परिचित हैं, परंतु हम नहीं जानते कि उसका सामना कैसे करें।

व्यवस्था-प्रणालियां—चाहे वे शैक्षिक हों या राजनीतिक—किसी रहस्यमय ढंग से नहीं बदली जातीं, उनमें परिवर्तन तभी होता है जब हमारे अपने अंदर कोई मौलिक परिवर्तन होता है। सबसे पहले व्यक्ति का महत्त्व है, न कि व्यवस्था का; और जब तक व्यक्ति स्वयं अपनी समग्र प्रक्रिया को नहीं समझता, कोई भी व्यवस्था विश्व में शांति और सामंजस्य नहीं ला सकती। ❖

भाषा : नैतिक निष्ठा के विकास की वाहक

पृष्ठ 18 का शेष

स्वराज्य तभी सार्थक होगा जब स्वभाषा की उन्नति होगी। जिस भाषा के माध्यम से साधारण जनता तक ज्ञान-विज्ञान पहुंच सकता है—उसकी उपेक्षा करना बहुत हानिप्रद होगा।

महात्मा गांधी ने कहा था—'मैं अपनी अल्पबुद्धि के अनुसार इस बात से अवगत हूं कि इस देश में बड़े-बड़े विद्वान यह मानते हैं कि अंतर्प्रांतीय उपयोग के योग्य भाषा तो अंग्रेजी भाषा ही है। लेकिन, वह भाषा कदापि राष्ट्रभाषा नहीं हुई है, क्योंकि उसमें और हिंदी भाषा में किसी प्रकार की भी समानता नहीं है। राष्ट्रभाषा ऐसी सहल होनी चाहिए, जिसे कोई भी सीख सके। यदि हम पराधीनता से ग्रस्त न हों तो हम आसानी से समझ सकते हैं कि ऐसी ही सामान्य भाषा की आवश्यकता है। अंग्रेजी सीखने के पीछे लाखों रुपया खर्च करने के बावजूद गिने-चुने लोग ही इस भाषा को सीख सके हैं और ऐसा होने पर उस भाषा पर पूर्ण अधिकार रखने वाले लोग तो इक्के-दुक्के ही होते हैं। इस भाषा को सीखने के लिए जो प्रयत्न करना पड़ता है, उसे देखता हूं तो मुझे तो ऐसी प्रतीति होती है कि उससे देश का तेज क्षीण होता जा रहा है।'

अपनी भाषाएं यदि समृद्ध हों तो देश का तेज भी शक्तिशाली होगा। ❖

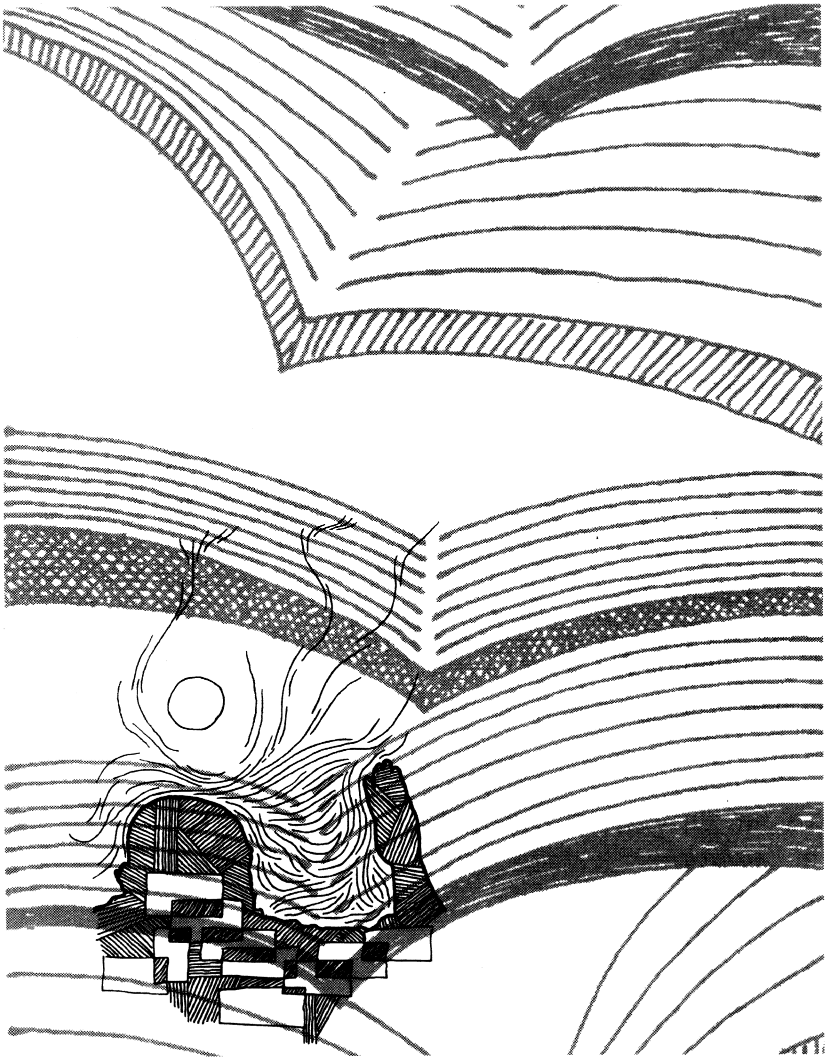

अनुभूति

यदि आप एक कस्बे में या एक शहर में रहते हैं और आप एक अपरिचित व्यक्ति के साथ या आपके साथ कोई अन्य अपरिचित व्यक्ति अनुचित व्यवहार करता है—तो संभावना यह रहती है कि उस व्यक्ति के साथ आपका पुनः मिलन शायद ही कभी हो और इसलिए यह सोचने की आवश्यकता नहीं रहती कि हमें एक-दूसरे के साथ न्यायपूर्ण एवं मानवीय व्यवहार ही करना चाहिए। यहां आप यह कह सकते हैं कि अदालत और कानून तो होता ही है, जिसकी मदद से आप न्याय पा सकते हैं। पर, अदालत और कानून की शरण लेने में वह आत्मीयता का भाव कहां मिल सकता है, जो कि एक 'क्वुत्जा' के व्यवहार में पाया जा सकता है? कानून की कोशिश यह होती है कि मुझे जबर्दस्ती अच्छा बनाए। पर, यह स्पष्ट है कि कोई किसी पर जबर्दस्ती करके उसे अच्छा बनने के लिए मजबूर नहीं कर सकता। वास्तविक अच्छाई वह है, जिसे व्यक्ति मानवता के नाते स्वेच्छा से एवं अपने समुदाय के लिए अपनाता है।

—सहजीवी गांव

इजराइल का एक प्रयोग

पुस्तक से

एक प्रसंग को समझें। रात्रि का समय था। एक लड़का तन्मयता के साथ पढ़ रहा था। मां सरस्वती ने देखा कि कितना श्रमशील विद्यार्थी है, इतनी रात्रि में भी तल्लीनता से पढ़ रहा है। मां सरस्वती प्रकट हुई और बोली—'वत्स! मैं तुम्हारी अध्ययन निष्ठा और श्रमनिष्ठा से प्रभावित हूं। इसलिए अब तुम पढ़ना-लिखना बंद कर दो, तुम अपने आप अच्छे अंकों से उत्तीर्ण हो जाओगे।' लड़के ने कहा—'मां! आपकी बड़ी कृपा है कि मुझे बिना पढ़े ही अच्छे अंक मिल जाएंगे। किंतु, मुझे यह वरदान नहीं चाहिए। यदि आप कुछ देना ही चाहती हो, तो दीये में तेल डाल दो। यह दीया जलता रहे और मैं निरंतर पढ़ता रहूं, आगे बढ़ता रहूं।'—ज्ञान और श्रमनिष्ठा के प्रति ऐसा अध्यवसाय होना चाहिए। ज्ञान के साथ-साथ आचार भी अच्छा बनना जरूरी है। क्योंकि ज्ञान का सार है—आचार। जैसे दूध का सार मक्खन होता है, वैसे ही ज्ञान का सार सदाचार होता है।

अन्धकारनिरोधित्वात् गुरुरित्यभिधीयते

❑ युवाचार्यश्री महाश्रमण ❑

तपस्या का एक प्रकार स्वाध्याय है। स्वाध्याय के पांच प्रकार बताए गए हैं। वे एक प्रकार से अध्यापन की प्रक्रिया अथवा ज्ञान-दान के प्रकार हैं। उनमें एक प्रकार है—वाचना। वाचना का तात्पर्य है विद्यार्थियों को या शिष्यों को पढ़ाना। विद्यालयों में कितने-कितने विद्यार्थी वाचना प्राप्त करते हैं, ज्ञान प्राप्त करते हैं और स्वयं के अज्ञान को दूर करते हैं।

आर्हत वांगमय के प्रतिष्ठित आगम उत्तराध्ययन सूत्र के उनतीसवें अध्ययन में भी एक प्रश्नोत्तर प्राप्त होता है। प्रश्न किया गया—**वायणाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?**—'भंते! वाचना (अध्यापन) से जीव क्या प्राप्त करता है?'—उत्तर दिया गया—**वायणाए णं निज्जरं जणयइ। सुयस्स य अणासायणाए वट्टए। सुयस्स अणासायणाए वट्टमाणे तित्थधम्मं अवलंबइ। तित्थधम्मं अवलंबमाणे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ**—'वाचना से वह कर्मों को क्षीण करता है। श्रुत की अनाशातना होती है। श्रुत की अनाशातना करने वाला तीर्थधर्म का अवलंबन लेता है। तीर्थधर्म का अवलंबन लेने वाला महानिर्जरा और महापर्यवसान का भागी होता है।'

शिक्षक और विद्यार्थी का एक अटूट संबंध होता है। शिक्षक का कार्य है—ज्ञान देना और विद्यार्थी का कार्य है—ज्ञान लेना। शिक्षक वाचना को अथवा ज्ञान देने के कार्य को भार न समझें, मात्र जीविका का साधन न समझें, अपितु पुनीत कार्य समझें कि मैं ज्ञान-दान के द्वारा कितनों का अंधकार मिटा रहा हूं। तभी एक शिक्षक गुरु कहलाता है। संस्कृत साहित्य में गुरु शब्द का अर्थ बताते हुए कहा गया है—

गुशब्दस्त्वन्धकारः स्यात्, रुशब्दस्तुन्निरोधनम्।
अन्धकारनिरोधित्वात् गुरुरित्यभिधीयते।।

'गु' शब्द का अर्थ है—अंधकार और 'रु' शब्द का अर्थ है—रोकना। अंधकार को रोकने के कारण शिक्षक

का नाम गुरु हो गया। गुरु पर अपने शिष्यों के, विद्यार्थियों के अज्ञानरूपी अंधकार को दूर करने का बड़ा दायित्व होता है।

शिक्षक में तीन बातें होनी चाहिए—शिष्टता, ज्ञान की योग्यता और ज्ञान-दान में कर्मठता। शिक्षक का जीवन इतना पुनीत और सदाचार संपन्न हो कि बोल कर कुछ न कहने पर भी उसके व्यवहार को देख कर विद्यार्थी व्यवहार का प्रशिक्षण प्राप्त कर सकें। गुरु में नैतिक मूल्यों के प्रति निष्ठा, अहिंसा और मैत्री की चेतना भी जाग्रत होनी चाहिए और उसका जीवन नशा-मुक्त भी हो। ऐसे सद्‌गुण-संपन्न शिक्षक को ही श्रेष्ठ शिक्षक कहा जा सकता है। शिक्षक स्वयं अध्ययन करे। अपने ज्ञान को स्पष्ट और पुष्ट रखे कि जिससे विद्यार्थियों को सही ज्ञान दिया जा सके।

यह भी माना जाता है कि अध्यापन करते-करते शिक्षक का ज्ञान स्वतः ही पुष्ट और स्पष्ट हो जाता है। इस दृष्टि से विद्यार्थी भी एक शिक्षक होता है और शिक्षक भी एक विद्यार्थी होता है। क्योंकि शिक्षक जब पढ़ाता है, तब विद्यार्थी की जो जिज्ञासा होती है, प्रश्न होते हैं और जो समाधान शिक्षक देता है, उससे शिक्षक का ज्ञान और ज्यादा परिमार्जित होता है, पुष्ट होता है। इस मानी में विद्यार्थी भी अपने गुरु के शिक्षक बन जाते हैं और शिक्षक का ज्ञान विद्यार्थियों की जिज्ञासा के कारण निरंतर स्पष्ट बनता जाता है। इसलिए शिक्षक को विद्यार्थी भी कहा गया है।

शिक्षक में श्रमशीलता होनी ही चाहिए। वह अपने विषय की पूरी तैयारी करे और बहुत श्रम व निष्ठा के साथ विद्यार्थियों को पढ़ाए। शिक्षक के मन में यह तड़प होनी चाहिए की मुझे विद्यार्थियों का निर्माण करना है। मात्र कालांश के समय में ही नहीं, यदि अपेक्षा हो तो अतिरिक्त समय में भी पढ़ाने का, ज्ञान देने का प्रयास करना चाहिए।

हमारी धर्म परंपरा में भी इसी तरह के ज्ञान-दान का क्रम चलता है। धर्मगुरु अपने शिष्यों को ज्ञान देते हैं। शास्त्रों में कितना गहन ज्ञान होता है, यह हम वेदों में देखें, उपनिषदों को देखें, जैन आगमों को देखें, पिटक आदि को देखें, और भी विभिन्न ग्रंथ मिल सकते हैं—जिनमें विशद और विशाल ज्ञान है। गुरु उस ज्ञान के विभिन्न प्रकल्पों में निष्णात होते हैं और वे अपने शिष्यों को उनके रहस्य बता सकते हैं। कुछ रहस्य ऐसे होते हैं, जिन्हें विशेषज्ञ गुरु ही प्रकट कर सकते हैं। इसलिए गुरु से ज्ञान लेने की अपेक्षा सदैव बनी रहती है। गुरु का धर्म है, उनका यह कार्य है कि वे अपने शिष्यों को ज्ञान दें और शिष्यों का धर्म है कि वह विनयपूर्वक गुरु द्वारा दीयमान ज्ञान को ग्रहण करे।

एक शिष्य के लिए अपेक्षित है कि वह अहंकार मुक्त रहे। गुरु के प्रति विनम्र रहने से ही ज्ञान प्राप्त हो सकेगा। विद्यार्थी के लिए यह भी अपेक्षित है कि वह गुस्सा न करे और अक्रोध भाव रखे, शांत रहे—तभी आसानी से ज्ञान प्राप्त हो सकेगा। विद्यार्थी के लिए यह भी अपेक्षित है कि वह प्रमाद से बचे, ज्यादा मनोरंजन न करे, नशा न करे अपितु सदैव जागरूक रहे। तभी भली प्रकार से ज्ञान मिल सकेगा। विद्यार्थी के लिए यह भी अपेक्षित है कि वह बीमार न बने, स्वास्थ्य के प्रति जागरूक रहे। रुग्ण व्यक्ति कितना और क्या अध्ययन कर पाएगा? इसलिए शरीर स्वस्थ रहे। इसके लिए वह नियमित योगासन का अभ्यास करे, अपने खान-पान में संयम रखे। प्रातःकाल भ्रमण आदि हो तो शरीर को स्वस्थ रखने में सहायता मिल सकती है। विद्यार्थी के लिए यह भी अपेक्षित है कि वह आलस्य न करे। आलस्य मनुष्य का एक ऐसा शत्रु है, जो उसका नुकसान किए बिना नहीं रहता है। जो व्यक्ति श्रम करता है, वह कभी अवसादग्रस्त नहीं बनता।

एक प्रसंग को समझें। रात्रि का समय था। एक लड़का तन्मयता के साथ पढ़ रहा था। मां सरस्वती ने देखा कि कितना श्रमशील विद्यार्थी है, इतनी रात्रि में भी तल्लीनता से पढ़ रहा है। मां सरस्वती प्रकट हुई और बोली—'वत्स! मैं तुम्हारी अध्ययन निष्ठा और श्रमनिष्ठा से प्रभावित हूं। इसलिए अब तुम पढ़ना-लिखना बंद कर दो, तुम अपने आप अच्छे अंकों से उत्तीर्ण हो जाओगे।' लड़के ने कहा—'मां! आपकी बड़ी कृपा है कि मुझे बिना पढ़े ही अच्छे अंक मिल जाएंगे। किंतु, मुझे यह वरदान नहीं चाहिए। यदि आप कुछ देना ही चाहती हो, तो दीये में तेल डाल दो। यह दीया जलता रहे और मैं निरंतर पढ़ता रहूं, आगे बढ़ता रहूं।'—ज्ञान और श्रमनिष्ठा के प्रति ऐसा अध्यवसाय होना चाहिए।

ज्ञान के साथ-साथ आचार भी अच्छा बनना जरूरी

है। क्योंकि ज्ञान का सार है—आचार। जैसे दूध का सार मक्खन होता है, वैसे ही ज्ञान का सार सदाचार होता है। ज्ञानवृद्धि और सदाचार के साथ-साथ आजीविका प्राप्त हो सके—ऐसी स्थिति का निर्माण अपेक्षित है। एक व्यक्ति यदि आजीविका प्राप्ति के योग्य नहीं बन पाता है, तो वह अपना परिवार कैसे चलाएगा? अतः उसके लिए वैसा ज्ञान भी आवश्यक है। उसमें वह क्षमता भी अपेक्षित है कि जिसके द्वारा वह उपार्जन कर सके और अपने परिवार का भरण-पोषण कर सके।

अभिभावक अपने लाडलों को विद्यालय में भेजते हैं। उनके मन में कई कल्पनाएं होती हैं। अभिभावक यह सोचते हैं कि हमारा बच्चा विद्यालय में पढ़ेगा और वह ज्ञान-संपन्न बन जाएगा, आजीविका प्राप्ति के योग्य बन जाएगा और संस्कार-संपन्न बन जाएगा। ज्ञान-संपन्नता, आत्मनिर्भरता और संस्कार-संपन्नता—इन अपेक्षाओं की पूर्ति विद्या-संस्थानों से होती है, तो ही वह संस्थान अपने आप में सफल है, सुफल है। यदि इन अपेक्षाओं की पूर्ति में कमी रहती है, तो मानना चाहिए कि कहीं न कहीं कमी है। चाहे शिक्षक में कमी है, चाहे 'सिस्टम' में कमी है, या फिर स्वयं विद्यार्थी में कमी है कि वह ठीक तरह ज्ञान प्राप्त नहीं कर रहा है, संस्कार प्राप्त नहीं कर रहा है और योग्यता का विकास नहीं कर पा रहा है।

विद्यार्थी में ज्ञानात्मक विकास के साथ भावनात्मक विकास भी हो। उसके भाव शुद्ध बन सकें, जिससे न वह अपने लिए समस्या बने, न परिवार के लिए समस्या बने और न समाज के लिए समस्या बने। अपितु उसमें समस्या के समाधान देने की क्षमता का निर्माण हो। अगर विद्यार्थी में अच्छे संस्कार, अच्छा ज्ञान और अच्छी क्षमता है तो वह समस्या-उत्पादक नहीं, समस्या-समाधायक बन सकता है।

ज्ञान का अभाव कई बार आदमी को गलत रास्ते पर भी ले जा सकता है। लौकिक विद्या का ज्ञान जिस तरह आवश्यक है, तो अलौकिक विद्या का बोध भी अपेक्षित है। जिससे जीवन में संतुलन बना रह सके।

यद्यपि ज्ञान अनंत है, किंतु जो महत्त्वपूर्ण है, सारभूत है—उस ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। जैसे हंस दूध और पानी में से दूध को ग्रहण कर लेता है, वैसे ही ज्ञानार्थी सारयुक्त ज्ञान को प्राप्त करे। इस ज्ञान प्राप्ति के लिए महत्त्वपूर्ण माध्यम बनती है—वाचना। वाचना से निर्जरा होती है और तीर्थधर्म की स्थिरता रहती है। ऐसे ज्ञान की परंपरा चलती रहती है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ऐसी ही वाचना और ज्ञान-परंपरा की जीवंत मिसाल हैं। उन्होंने स्वयं ज्ञान प्राप्त किया और कितनों को इसका बोध दिया। कितनों को ज्ञान देने का प्रयास किया, कितनों को संस्कृत भाषा के ग्रंथ पढ़ाए, कितनों को आगम का ज्ञान दिया। आचार्यश्री ने आगम का संपादन करके कितने-कितने पाठकों के लिए आगम ज्ञान सुलभ बना दिया। कितने-कितने विद्यार्थी, साधु-साध्वियों, समण-समणियों ने आचार्यप्रवर के चरणों में बैठ कर ज्ञान प्राप्त किया है। उन विद्यार्थियों में एक नाम मेरा भी है। यह अलग बात है कि किसने, कितना ज्ञान आत्मसात किया? किंतु फिर भी पूज्यप्रवर के उपपात में बैठ कर कुछ सीखने का, पढ़ने का अवसर मिला—यह सौभाग्य की बात है। आचार्यश्री ने वाचना देकर कितनों पर उपकार किया है। ऐसे महामनीषी, विद्यामनीषी, आगमज्ञान मनीषी व्यक्ति कोई-कोई ही होते हैं, जिनकी अपनी प्रज्ञा होती है, मेधा होती है, अध्यवसाय होता है और जिन्हें अनुकूल स्थितियां भी मिल जाती हैं।

तभी तो आर्षवाणी में सुंदर ही कहा गया कि वाचना से निर्जरा होती है, श्रुत का सम्मान होता है और श्रुत का सम्मान करने वाला व्यक्ति तीर्थधर्म का अवलंबन लेता है। तीर्थधर्म का अवलंबन लेने वाला व्यक्ति कर्मों का और संसार का अंत करने वाला होता है। ❖

ईश्वर अपनी अंतिम अवस्था में न अस्तित्व है, न कल्पना, न स्थिर, न अस्थिर, वह मात्र अमिश्रित विशुद्ध ऐक्य है—सिंपल यूनिटी। गो कि तर्कशास्त्री ईश्वर के अस्तित्व के बारे में दृढ़ता से विश्वास करते हैं, लेकिन हम उसके स्वभाव के बारे में नकारात्मक वर्णन के अलावा और कुछ नहीं कह सकते। हम उसका अस्तित्व मानने को जबरिया मजबूर हैं। यह कहना कि वह अस्तित्व और कल्पना के ऊपर है—उसे परिभाषित करना नहीं हुआ। यह तो उससे भिन्न बनाना है, जो वह नहीं है। वह क्या है, हम नहीं जानते। उसको समझने की कोशिश करना व्यर्थ है।

—प्लाटिनस

तेरापंथ के सभी आचार्यों की कुछ मौलिक विशेषताएं प्रसिद्ध हैं। सप्तमाचार्यश्री डालगणी का अनुशासन भी प्रसिद्ध है। चारों ही तीर्थ में उनके व्यक्तित्व का जादुई प्रभाव था। उनके सामने बोलने की किसी की शक्ति नहीं होती थी। अनुशासनहीनता उनके लिए बिल्कुल अक्षम्य थी। वे एक उदाहरण दिया करते थे कि लोग सांप से कहते हैं—'नागदेव! जरा कृपा-दृष्टि रखना, परंतु उन्हें उस प्रार्थना से पूर्व यह ध्यान रखना चाहिए कि वे उसकी पूंछ पर पैर न रखें। यदि वे उस सावधानी में चूकते हैं तो उन्हें हाथों-हाथ दंड भोगने के लिए भी तैयार रहना चाहिए।' आचार्यश्री डालगणी अकसर भिक्षु-शासन को—'सात हाथ की सोड़'—कहते थे। इसका तात्पर्य हुआ कि जो मर्यादा में चलता है, उसके लिए संघ में बहुत बड़ा स्थान है। उसे उपालंभ की कोई संभावना नहीं रहती।

आचार्यश्री डालगणी : निर्बाध गति; लक्ष्य स्पष्ट

❑ *मुनि दीपकुमार* ❑

तेरापंथ धर्मसंघ का सौभाग्य है कि उसे समय-समय पर ऐसे विलक्षण और शक्ति-संपन्न आचार्य प्राप्त होते रहे हैं, जिनके कुशल नेतृत्व में यह संघ निरंतर प्रगति की दिशा में अग्रसर होता रहा है। तेरापंथ के सातवें आचार्य आचार्यश्री डालगणी ऐसे ही तेजस्वी आचार्य थे। उनके लिए—**विक्रमार्जित सिंहस्य स्वयमेव मृगेन्द्रता**—की उक्ति शत-प्रतिशत चरितार्थ होती है। जिस प्रकार सिंह अपने पौरुष से वनराज कहलाता है, उसे दूसरों के द्वारा राज्याभिषेक की आवश्यकता नहीं होती है—इसी प्रकार आचार्यश्री डालगणी भी प्रारंभ से ही अलौकिक प्रतिभा और तेजस्विता से संपन्न थे। दीक्षा लेते ही वे सबके आकर्षण के केंद्र बन गए थे। उनकी निर्भीकता और साहस वृत्ति की परिचायक अनेक घटनाएं इतिहास के पृष्ठों पर सुरक्षित हैं। वे जहां भी रहे, वहां के जन-मानस में उनके व्यक्तित्व की अमिट छाप अंकित हो गई। उनकी ग्रहणशीलता और तर्कशक्ति अद्भुत थी। उनके मार्ग में कई प्रकार के अवरोध भी उत्पन्न हुए, पर वे निर्बाध गति से अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होते गए।

प्रवचन शैली

आचार्यों के लिए प्रवचन-कला का विशेष महत्त्व होता है। उन्हें आगम वाणी के गूढ़ विषयों को जन-भाषा में लोगों को आत्मसात कराना होता है। धर्म की प्रभावना में प्रवचन शैली का विशेष महत्त्व होता है। आचार्यश्री डालगणी के प्रवचन से अकेला तेरापंथ ही नहीं, अन्य संप्रदायों के लोग भी बड़े प्रभावित थे। उनकी आवाज बहुत बुलंद थी। वे आगमों के सूक्ष्म मर्मज्ञ थे। उन्हें कई आगम कंठस्थ थे। तात्त्विक विषयों की उनकी व्याख्या बहुत सरस और प्रभावशाली होती थी। इनके प्रवचन स्थानकों और उपाश्रयों में आग्रह भरे अनुरोध के साथ होते थे। ऐसे ही एक प्रसंग का स्मरण हो रहा है—पालीताणा से डालमुनि राणपुर होते हुए चूड़ा पधारे। वहां एक मास का प्रवास कर बोराद होकर लीमड़ी पधार गए।

वहां उत्तमचंदजी आदि दस स्थानकवासी साधु थे। उनमें से एक मुनि जीवणजी डालमुनि के पास आए और पूछने लगे—'आप स्थानक में पधार सकते हैं या नहीं?'—डालमुनि ने उत्तर दिया—'हमें कोई आपत्ति नहीं है।'—मुनि जीवणजी ने तब अनुनय करते हुए कहा—'हमारे यहां बड़े स्थानक में मुनि उत्तमचंदजी और मुनि देवीचंदजी—दो सिंघाड़ों के साधु विराज रहे हैं। उन्होंने आपको स्थानक में मिलने के लिए सादर कहलवाया है। आप स्वीकृति देने की कृपा करें।'

डालमुनि ने उक्त निमंत्रण को स्वीकार किया और स्थानक में पधारे। वहां लगभग चार-पांच सौ श्रावक पहले से ही एकत्रित थे। मुनि उत्तमचंदजी ने डालमुनि से पट्ट पर बैठने तथा पानी ग्रहण करने के लिए बहुत आग्रह किया, परंतु उन्होंने यह स्वीकार नहीं किया।

पानी की उन्हें प्यास नहीं थी और पट्ट पर बैठने से इनकार करते हुए उन्होंने कहा—'मैं आप सबके बराबर भूमि पर बैठने का विचार रखता हूं।'

मुनि उत्तमचंदजी ने तब वार्तालाप के प्रसंग को दूसरा मोड़ देते हुए कहा—'हमने आपके प्रवचन की बहुत प्रशंसा सुनी है, अतः बहुत दिनों से इच्छा थी कि कभी अवसर मिले तो सुनने का लाभ लें। आज आपका यहां आगमन सुना तो हमें बड़ी प्रसन्नता हुई। आप जहां ठहरे-हैं, वहां इतने भाई लाभ नहीं ले सकते थे, इसलिए आपको यहां आने का कष्ट दिया है।'—उन्होंने व्याख्यान सुनाने के लिए आग्रह किया।

डालमुनि ने उक्त बात को सहर्ष स्वीकार किया और व्याख्यान सुनाया। उसी के अंतर्गत प्रसंगवश तेरापंथ की मर्यादाओं का भी जमकर विवेचन किया। उपस्थित मुनिजन तथा श्रावक-समुदाय पर उसका बहुत ही अनुकूल प्रभाव पड़ा। मुनि उत्तमचंदजी ने कहा—'आपके प्रवचन की जो प्रशंसा सुनी थी, वह तो बहुत कम थी। आपकी प्रवचन-शैली और मिलनसारिता, दोनों ही बेजोड़ हैं।'

आचार्यश्री डालगणी प्रारंभ से ही प्रवचन-प्रेमी थे। जीवन के संध्याकाल में जब शरीर को रोगों ने घेर लिया, तब भी उनकी प्रवचन की अभिरुचि ज्यों की त्यों बनी रही। विक्रम संवत 1966 की बात है। आचार्यश्री डालगणी दो संतों का हाथ पकड़ कर प्रवचन देने पधारे। उस समय उन्होंने सवा सात घंटे तक लगातार प्रवचन दिया। कालांतर में जब शरीर के अधिक रोगाक्रांत हो जाने से पूज्यश्री पधार नहीं पाए, फिर भी प्रवचन देने की भावना प्रबल बनी रही। उन्होंने कई बार संतों से कहा—'प्रवचन स्थल तक जाने की अब शक्ति नहीं रही, किंतु यदि मुझे उठा कर वहां ले जाएं, तो मैं वहां बैठ कर दो घंटे तक प्रवचन दे सकता हूं।'—पूज्य डालगणी को अद्‌भुत प्रवचन प्रेम था। लोग भी उनके प्रवचनों से अघाते नहीं थे, उन्हें सुनना चाहते थे।

अनुशासन

तेरापंथ के सभी आचार्यों की कुछ मौलिक विशेषताएं प्रसिद्ध हैं। सप्तमाचार्यश्री डालगणी का अनुशासन भी प्रसिद्ध है। चारों ही तीर्थ में उनके व्यक्तित्व का जादुई प्रभाव था। उनके सामने बोलने की किसी की शक्ति नहीं होती थी। अनुशासनहीनता उनके लिए बिल्कुल अक्षम्य थी। वे एक उदाहरण दिया करते थे कि लोग सांप से कहते हैं—'नागदेव! जरा कृपा-दृष्टि रखना, परंतु उन्हें उस प्रार्थना से पूर्व यह ध्यान रखना चाहिए कि वे उसकी पूंछ पर पैर न रखें। यदि वे उस सावधानी में चूकते हैं तो उन्हें हाथों-हाथ दंड भोगने के लिए भी तैयार रहना चाहिए।'—आचार्यश्री डालगणी अकसर भिक्षु-शासन को—'सात हाथ की सोड़'—कहते थे। इसका तात्पर्य हुआ कि जो मर्यादा में चलता है, उसके लिए संघ में बहुत बड़ा स्थान है। उसे उपालंभ की कोई संभावना नहीं रहती। गुरुदेवश्री तुलसी ने भी तेरापंथ प्रबोध में लिखा है—

अपणे पथ पर बढ़ो निरंतर पड़ो न खलता खोड़ में,
कहता डालिम-सोवो सुख भर सात हाथ की सोड़ में,
हो संतां! छेड़्यां सहणी पड़सी फणधर-फुंकार हो।

रामसिंहजी का गूढ़ा के माईदासजी गाधिया एक धनी-मानी और प्रमुख श्रावक थे। पूरे चोखले में उनका दबदबा था। संवत 1954 के आषाढ़ में वे दिवंगत हो गए। गूढा में प्रतिवर्ष चातुर्मास होता था। उस वर्ष भी था। माईदासजी की मृत्यु के कारण धार्मिक प्रेरणा वाले एक मुख्य और बड़े परिवार के व्यक्तियों का व्याख्यान आदि में आगमन रुक गया। अन्य व्यक्ति वहां संवेदना प्रकट करने के लिए आने वालों की व्यवस्था में लग गए, तो कुछ खेती आदि कार्यों में व्यस्त हो गए। प्रातः दर्शन कर लेने के पश्चात् व्याख्यान के समय वहां कोई नहीं आ पाता। समग्र चतुर्मास में केवल संवत्सरी और चातुर्मास समाप्ति पर ही व्याख्यान हुआ।

दोनों मुनि वहां से विहार कर लाडनूं पहुंचे। उन्हीं दिनों सारे संघ ने आचार्यश्री माणकगणी के उत्तराधिकारी के रूप में डालगणी का निर्वाचन किया। माघ कृष्णा दूज को उन्होंने पदभार संभाला और संघ की सारणा-वारणा में लग गए। उसी क्रम में गूढ़ा से आए मुनियों की धार्मिक गतिविधियों का विवरण पूछा गया। उन्होंने यथावत अवगति प्रदान की। आचार्यश्री डालगणी को यह जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि पूरे चातुर्मास काल में वहां दो दिन के अतिरिक्त व्याख्यान ही नहीं हुआ! उन्होंने श्रावकों के उस शैथिल्य पर कठोर रुख अपनाया और आगामी चातुर्मास नहीं दिया। श्रावकों ने जान लिया कि प्रमादवश जो त्रुटि उनसे हो चुकी है, उसी का यह दंड मिला है।

अगले वर्ष बीदासर मर्यादा-महोत्सव पर माईदासजी के छोटे भाई पूनमचंदजी आदि कई व्यक्ति प्रार्थना करने पहुंचे। सभी के मन में धुकर-पुकर मची हुई थी कि न जाने आचार्यश्री क्या कहेंगे? परंतु, उस समय उन्होंने कुछ नहीं कहा। इससे वे लोग कुछ आश्वस्त हुए, कुछ साहस भी बढ़ा। दूसरे दिन प्रातः व्याख्यान के समय उन्होंने अपनी प्रार्थना फिर प्रस्तुत की। आचार्यश्री डालगणी कुछ देर तक तो उन्हें यह कह कर टालते रहे कि सभी जगह चातुर्मास करवाना संभव नहीं होता। परंतु, जब वे लगातार आग्रह करते रहे, तब आचार्यश्री ने उपालंभ देते हुए पूछा—'क्यों देना चाहिए तुम्हें चातुर्मास? कहां है तुम्हें उसकी आवश्यकता?'—'भूख होने पर ही भोजन परोसना उपयुक्त होता है, अन्यथा अजीर्ण हो जाता है। तुम्हारे पास काम बहुत है तो हमारे पास क्षेत्र बहुत है। मेरे पास इतने सिंघाड़े नहीं हैं कि चार महीनों तक मूर्ति बनाकर गूढ़ा में बिठा दूं।'

व्याख्यान का समय, भारी परिषद्, अनेक क्षेत्रों के समागत लोग—ऐसे समय में आचार्यश्री डालगणी ने जो उपालंभ दिया, वह गूढ़ा के लोगों के लिए कर्तव्यबोध का ऐसा पाठ था कि वे उसे आजीवन भूल नहीं सके। पूनमचंदजी आदि सभी नम्र एवं गंभीर प्रकृति के श्रावक थे। गलती का पश्चात्ताप उन्हें था। सबने चरणों में सिर रखते हुए भूतकाल की गलती के लिए क्षमा-याचना की और आगे के लिए सावधानी का संकल्प व्यक्त किया।

गूढ़ा-निवासियों को लगातार आठ वर्षों तक चातुर्मास की प्रतीक्षा करनी पड़ी। वे प्रतिवर्ष दर्शन करते, प्रार्थना करते और खाली हाथ लौट जाते। पूरी परीक्षा के पश्चात् ही आचार्यश्री डालगणी पसीजे और संवत 1963 में ही वहां पुनः चातुर्मास का क्रम प्रारंभ किया गया। इस बार सभी श्रावकों ने पूर्ण सावधानी से कार्य किया और एक दिन के लिए भी व्याख्यान बंद नहीं होने दिया। आचार्यश्री डालगणी का अनुशासन इतना कठोर था—यह इस घटना से प्रमाणित होता है।

विलक्षण आचार्य

आचार्यश्री डालगणी विलक्षण आचार्य थे। उनकी कार्यशैली को समझना दूसरों के लिए कभी-कभी बहुत कठिन होता था। वे विलक्षण प्रतिभा के धनी थे। उनके जीवन की एक-दो घटनाओं का उल्लेख उपयुक्त रहेगा, जो उनकी विलक्षणता की सूचक हैं—

संवत 1963 का मर्यादा-महोत्सव सरदारशहर में संपन्न हुआ। साधारणतया मर्यादा-महोत्सव पर साधु-साध्वियों के चातुर्मास घोषित होते हैं, पर उस वर्ष उस समय एक भी चातुर्मास घोषित नहीं किया गया और सभी साधु-साध्वियों के साथ आचार्यश्री सरदारशहर से राजलदेसर पधारे। शील-सप्तमी तक सभी साधु-साध्वी आचार्यप्रवर के सान्निध्य में रहे। उसके बाद सबको आदेश दिया कि—'नांगले और झोलके घाल कर आ जाओ।'—आचार्यश्री डालगणी की इस विलक्षणता पर सभी आश्चर्यचकित थे। उसी समय एक साथ सबके चातुर्मास घोषित हो गए तथा सबका विहार भी हो गया।

एक बार आचार्यश्री मघवागणी का चातुर्मास उदयपुर में था। मुनि डालगणी भी साथ में ही थे। विरोधी वातावरण की उग्रता को देखते हुए सब साधुओं को आते-जाते मौन रखने का आदेश था और विरोधियों की बातों का जवाब नहीं देने की आज्ञा थी। एक दिन मुनि डालचंदजी मुनि हंसराजजी के साथ पानी लेने जा रहे थे। विद्वेषवश किसी ने उन पर झूठा आक्षेप लगाते हुए कहा—'ये तेरापंथी साधु पानी गिराते हुए जा रहे हैं।'—जब कोई उत्तर नहीं दिया गया तो वह व्यक्ति जोर-जोर से बोलने लगा। उसकी आवाज सुन कर लोगों की भीड़ इकट्ठी हो गई। तब मुनि डालगणी ने अवसर देख कर मौन खोला। उनसे पूछा—'क्या कह रहे हो?'—उसने कहा—'तुम तेरापंथी साधु पानी गिराते जा रहे हो, किसी की बात सुनते ही नहीं हो।'—तब मुनि डालगणी ने अपने पानी का पात्र उलटा करके दिखाया और कहा—'मेरी झोली और पात्र बिल्कुल

सूखे हैं। फिर झूठा आक्षेप क्यों लगा रहे हो?'—उपस्थित लोग उस विद्वेषी भाई के व्यवहार की उसी क्षण निंदा करने लगे।

जब डालगणी ने स्थान पर आकर आचार्यश्री मघवागणी को सारी बात का निवेदन किया, तब मघवागणी बड़े प्रसन्न हुए। यह उनकी विलक्षण प्रतिभा का परिचायक है।

प्रभावक आचार्य

आचार्यश्री डालगणी अपने युग के विशिष्ट प्रभावक आचार्य थे। उनके व्यक्तित्व से दूसरे संप्रदायों के साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविकाएं भी बहुत प्रभावित थे। उस समय के अनेक शासक और राज्याधिकारी भी उनके दर्शन करने आते और बहुत प्रभावित होते। कई विरोधी लोग कुतर्क करने की भावना से उनके पास आते। पर, उनके सामने आकर थोड़े ही समय में सभी निरुत्तर हो जाते। कच्छ प्रदेश में बेला गांव के श्रावक बहुत तत्त्वज्ञ थे। वे साधु-साध्वियों के व्याख्यान में नाना-प्रकार के प्रश्न पूछते रहते थे। आचार्यश्री डालगणी ने मुनि अवस्था में ही वहां सफल और प्रभावशाली चतुर्मास किए। उनके व्याख्यान में कोई भी बोलने और तर्क-वितर्क करने का साहस नहीं करता था। उनका प्रभाव इतना था कि कच्छ प्रदेश में उन्हें—'कच्छी-पूज'—के नाम से जाना जाने लगा। उनके नाम का भी बहुत बड़ा प्रभाव था। विपत्ति के समय उनका नाम मंत्र की तरह चमत्कार दिखाता था। ऐसी ही एक घटना ज्ञातव्य है—

सीकर का गुलाब खां नामक एक मुसलमान बंगाल के 'डुमार हाट' गांव में नौकरी करता था। एक दिन उसको सांप ने काट खाया। मालिक ने अनेक उपाय किए, परंतु विष का प्रभाव घटने के स्थान पर बढ़ता ही गया। सभी ने उसके जीवन की आशा छोड़ दी थी। उसी समय बीदासर के कर्मचंदजी दूगड़ वहां पहुंच गए। उन्होंने मृत्यु मुख में पड़े गुलाब खां को देख कर उसके मालिक से कहा—'बचना न बचना तो भाग्य के अधीन है, परंतु आप आज्ञा दें तो एक प्रयास करके मैं भी देख लूं।'—मालिक को उसमें क्या आपत्ति हो सकती थी? उसने स्वीकृति दे दी। कर्मचंदजी ने तब आचार्यश्री डालगणी के नाम का जप करते हुए कच्चे सूत के गांठें लगा कर एक डोरा बनाया और गुलाब खां के गले में बांध दिया। सभी ने साश्चर्य देखा कि धीरे-धीरे विष का प्रभाव दूर होने लगा है। जब वह बिल्कुल स्वस्थ हो गया, तब कर्मचंदजी ने उससे कहा कि डालगणी के नाम के प्रभाव से ही तुम स्वस्थ हुए हो, अतः एक बार बीदासर जाकर उनके दर्शन अवश्य कर लेना।

स्वस्थ होने पर कालांतर में गुलाब खां सीकर आया। वहां से अपने परिवार को लेकर वह बीदासर पहुंचा। वहां लोगों से पूछने लगा—'डालूजी महाराज का देहरा (मंदिर) कहां है?'

लोगों ने उस नाम का देहरा नहीं सुना था। अतः हर कहीं से यही उत्तर मिला कि यहां तो इस नाम का कोई देहरा नहीं है।

गुलाब खां भी चकराया कि इतने चमत्कारी देवता का देहरा स्वयं यहां के निवासियों से कैसे छिपा हुआ है? फिर भी वह पूछताछ करता-करता बाजार में आ पहुंचा और वहां उपस्थित लोगों से जानकारी चाही। कुछ लोगों ने तो उसे उपर्युक्त प्रकार से ही उत्तर दिया, परंतु कुछ ने उससे वहां आने का कारण आदि की जानकारी चाही। जब उसने अपना सारा वृत्तांत सुनाया, तब किसी समझदार ने अनुमान लगाया कि यह तो डालगणी के दर्शन करने आया है। उसको बताया कि यहां डालगणी का कोई देहरा नहीं है, अपितु वे स्वयं साक्षात ही यहां विराजमान हैं। तब उपस्थित लोगों में से एक भाई गुलाब खां परिवार को अपने साथ लेकर पंचायत नोहरे में आया और आचार्यश्री डालगणी के दर्शन कराए।

गुलाब खां ने अपनी सारी घटना निवेदित की। वह कई दिनों तक वहां ठहरा। उसने साधुचर्या की पूरी जानकारी प्राप्त की और आचार्यश्री की भक्ति में लग गया।

फिर तो गुलाब खां प्रायः दर्शन करने के लिए आता रहता था। आचार्यश्री डालगणी के नाम की महिमा ने उसे जीवन-दान ही नहीं दिया, अपितु जैसे एक जैन श्रावक ही बना दिया। उसके पूरे परिवार ने उसी समय से मद्यपान एवं मांसाहार का परित्याग कर दिया।

पूज्य डालगणी का शासनकाल यद्यपि लगभग बारह वर्षों का ही रहा, पर इस अवधि में तेरापंथ धर्मसंघ की अद्भुत प्रभावना और गौरव-वृद्धि हुई। मुनि-जीवन से लेकर आचार्यकाल तक विलक्षण तेजस्विता के साथ धर्मसंघ के गगनांगण में वे चमकते रहे। ❖

युवाचार्यश्री महाश्रमणजी सत्य के अन्वेषक हैं। वस्तुतः एक धर्मसंघ के महत्त्वपूर्ण दायित्व का भार जिसके कंधों पर हो, सत्य ही उसकी सबसे बड़ी शक्ति होती है। सत्यान्वेषक के लिए पहली शर्त है—उद्दाम अनुसंधित्सा। जहां यह भाव आ जाता है कि सत्य को जान लिया, वहां सत्य स्थिर पानी की तरह सड़ने लगता है। किंतु, जहां यह उत्कट अभिलाषा बनी रहती है कि सत्य को जानना है, वहां सत्य बहते पानी की तरह निर्मल बना रहता है। युवाचार्यश्री महाश्रमणजी ऐसे ही जिज्ञासु हैं। उनकी जिज्ञासुवृत्ति सदैव सहज रूप में सामने आती रही है। उनके ज्ञान की गंभीरता का रहस्य भी यही है। विषय की स्पष्टता तथा उसे ग्राह्य बनाए बिना स्वीकार करना उन्हें कभी काम्य नहीं रहा है। जिज्ञासा में उन्हें न कोई संकोच है और न वे अपनी जिज्ञासाओं की इतिश्री करते हैं। स्वाध्याय, प्रश्न, प्रति-प्रश्न, श्रवण और मनन द्वारा निरंतर परत-दर-परत वे सत्य को अनावृत करते रहते हैं।

सरलता में प्रतिध्वनित आध्यात्मिक ऊंचाई

❑ डॉ. बच्छराज दूगड़ ❑

"आचार्य भिक्षु ने अपने परम विनीत शिष्य मुनि भारमलजी से एक दिन कहा—'यदि किसी ने तुम्हारी गलती बताई तो तुम्हें प्रायश्चित्त स्वरूप तेला करना होगा—मैं महाश्रमण के लिए उस प्रकार तेला करने की बात तो नहीं कहता, किंतु एक बात अवश्य कहना चाहता हूं, आज सुविधावाद का युग है। साधु-समाज पर भी उसका प्रभाव पड़ने लगा है। इस स्थिति को देखते हुए मैं महाश्रमण पर एक प्रयोग करना चाहता हूं। महाश्रमण! यदि तुम्हारे बारे में ऐसी कोई शिकायत आई कि मुनि मुदित सुविधावादी बन रहे हैं, या तुम्हारी कोई सुविधावादी प्रवृत्ति मेरे स्वयं के ध्यान में आई, तो तुम्हें प्रायश्चित्त स्वरूप तीन दिनों तक तीन-तीन घंटे खड़े-खड़े ध्यान करना होगा।" आचार्यश्री तुलसी द्वारा यह एक कठिन अनुशासनात्मक प्रयोग उस व्यक्तित्व के लिए था, जिसे भविष्य में भारमलजी के समान ही तेरापंथ धर्मसंघ की बागडोर संभालनी थी।

आचार्यश्री तुलसी ने 'महाश्रमण' पद पर मनोनीत करते हुए मुनि मुदित के सरलमना, ऋजु, विनम्र और विद्याप्रेमी गुणों का जिक्र कर भविष्य की ओर इंगित करते हुए कहा था—'इनमें वे सभी गुण हैं, जो एक अच्छे व्यवस्थापक में होने आवश्यक हैं।'—इसी की पुष्टि आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने महाश्रमण मुनि मुदित को युवाचार्य पद देते हुए इन शब्दों में की थी—'आज मैं सचमुच निश्चिंत हो गया हूं।'—आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने वि. सं. 2053 की दीपावली को लिखे उत्तराधिकार पत्र में यह उल्लेख किया था—'मुनि मुदित कुमार की अध्यात्मनिष्ठा और आचारनिष्ठा ने मेरे मन को प्रभावित किया है। उनकी विनम्रता भी आकृष्ट करती रही है।'

भारतीय परंपरा में गुरु का स्थान सर्वोपरि है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी को जिस प्रकार आचार्यश्री तुलसी ने ढाला, उसी प्रकार युवाचार्यश्री महाश्रमण को आचार्यश्री महाप्रज्ञजी निरंतर गढ़ते रहे हैं। इसमें

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का पुरुषार्थ तो है ही, साथ ही युवाचार्यश्री महाश्रमण की भी अपने गुरु से ग्रहण कर लेने की वैसी ही उत्कंठा है, जिस प्रकार स्वाति नक्षत्र के जलबिंदु को पीने की चातक की उत्कंठा होती है। युवाचार्यश्री महाश्रमण का यह सौभाग्य भी है कि उन्हें आचार्यश्री महाप्रज्ञजी जैसे साक्षातधर्मी पथप्रदर्शक प्राप्त हुए हैं। वे आधुनिक युग के नचिकेता हैं, जो अनावृत सत्य को जानने के लिए सर्वस्व न्योछावर कर गुरु-चरणों में तत्पर हैं। उनकी गुरुभक्ति अद्वितीय है। गुरु के मुंह से निकला हर शब्द, गुरु का हर इंगित उनके लिए ब्रह्मवाक्य है। अहिंसा यात्रा के अंतर्गत आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की लाडनूं से सीधे बीदासर यात्रा निर्धारित थी, जबकि युवाचार्यश्री महाश्रमण को लाडनूं से स्वतंत्र विहार कर राजलदेसर होते हुए बीदासर पहुंचना था। राजलदेसर में दो-तीन दिन का प्रवास था। बारिश की वजह से राजलदेसर के ताल में दलदल की स्थिति हो गई थी। ऐसी स्थिति में राजलदेसर के श्रावकों का आग्रह था कि युवाचार्यश्री एक-दो दिन और विराज जाएं, ताकि ताल पूरा सूख जाए और यात्रा निर्विघ्न हो। अकस्मात आचार्यप्रवर का संदेश आया—अनुकूल हो तो युवाचार्य राजलदेसर से विहार कर बीदासर आ जाएं। युवाचार्यश्री चाहते तो एक-दो दिन राजलदेसर रुक सकते थे, किंतु गुरु इंगित को शिरोधार्य किया और आचार्यप्रवर के पत्र को सिर पर रख कर कहा—गुरु इंगित से बड़ा मेरे लिए कुछ नहीं है, मैं आज ही बीदासर के लिए प्रस्थान करूंगा। उस समय युवाचार्यश्री का तेज देखने योग्य था। उस दृश्य को शब्द बांध ही नहीं सकते। मैं घटना मात्र को कह रहा हूं, भावों की अभिव्यक्ति असंभव है। यह घटना गुरु के प्रति उनकी अनन्य श्रद्धा और विश्वास को दर्शाती है।

युवाचार्यश्री महाश्रमणजी सत्य के अन्वेषक हैं। वस्तुतः एक धर्मसंघ के महत्त्वपूर्ण दायित्व का भार जिसके कंधों पर हो, सत्य ही उसकी सबसे बड़ी शक्ति होती है। सत्यान्वेषक के लिए पहली शर्त है—उद्दाम अनुसंधित्सा। जहां यह भाव आ जाता है कि सत्य को जान लिया, वहां सत्य स्थिर पानी की तरह सड़ने लगता है। किंतु, जहां यह उत्कट अभिलाषा बनी रहती है कि सत्य को जानना है, वहां सत्य बहते पानी की तरह निर्मल बना रहता है। युवाचार्यश्री महाश्रमणजी ऐसे ही जिज्ञासु हैं। उनकी जिज्ञासुवृत्ति सदैव सहज रूप में सामने आती रही है। उनके ज्ञान की गंभीरता का रहस्य भी यही है। विषय की स्पष्टता तथा उसे ग्राह्य बनाए बिना स्वीकार करना उन्हें कभी काम्य नहीं रहा है। जिज्ञासा में उन्हें न कोई संकोच है और न वे अपनी जिज्ञासाओं की इतिश्री करते हैं। स्वाध्याय, प्रश्न, प्रति-प्रश्न, श्रवण और मनन द्वारा निरंतर परत-दर-परत वे सत्य को अनावृत करते रहते हैं। उनके अनावृत ज्ञान की परीक्षा आचार्यश्री महाप्रज्ञजी द्वारा की जाती रही है।

ज्ञान प्राप्ति के लिए दो साधनों का उपयोग होता है—पहला तर्क और दूसरा श्रद्धा। तर्क ही प्रमाण के रूप में प्रमेयों को जानने का साधन है और गीता के अनुसार श्रद्धा भी ज्ञान प्राप्ति का साधन है—**श्रद्धावांल्लभते ज्ञानम्**।—जैन दर्शन में ज्ञान का क्रम श्रद्धा के बाद है। श्रद्धा और तर्क प्रायः परस्पर विरोधी समझे जाते हैं, पर वस्तुतः वे एक-दूसरे के पूरक हैं। जो श्रद्धा तर्क द्वारा समर्थित न हो, वह श्रद्धा पुष्ट नहीं कही जा सकती। जैन दर्शन और महावीरवाणी में युवाचार्यश्री महाश्रमणजी की आस्था अविचल है। फिर भी जैन धर्म की किसी भी मान्यता को तर्क की कसौटी पर कसे बिना मानने को वे तैयार नहीं हैं। महावीरवाणी में अटूट श्रद्धा होते हुए भी वे आगम वाणी को तर्क की कसौटी पर कसते रहते हैं। उनका यही एक गुण उन्हें सच्चे जिज्ञासु के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए पर्याप्त है। तर्क आधारित श्रद्धा का परिणाम यह होता है कि नित-प्रतिदिन आगम के नए-नए अर्थ व्यंजित होते रहते हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के साथ आगम-मंथन में उनके प्रश्न-प्रतिप्रश्नों की शृंखला तब तक चलती रहती है, जब तक आगम का मर्म उनकी पकड़ में न आ जाए। दर्शनशास्त्र में तो कहा ही जाता है कि उत्तर ढूंढ़ने से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है—प्रश्न उठाना। प्रश्न उठाने की इस प्रक्रिया में युवाचार्यश्री महाश्रमणजी का कोई सानी नहीं है।

प्रश्न उपस्थापित करना, विशेषकर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के समक्ष—सरल कार्य नहीं है। एक ओर गुरुभक्ति है, दूसरी ओर तर्कसंगतता है। तर्कसंगतता पर इतना अधिक बल कभी-कभी शिष्य की श्रद्धा के विषय में संशय उत्पन्न कर सकता है। युवाचार्यश्री महाश्रमणजी की विशेषता यह है कि वे प्रश्न पर प्रश्न उठाते हैं। फिर भी उनकी श्रद्धा के विषय में किसी तरह के संदेह का कोई अवकाश इसलिए नहीं होता, क्योंकि उनके प्रश्न

सरल जिज्ञासुवृत्ति से उत्पन्न होते हैं। उनमें न कहीं पांडित्य प्रदर्शन का लेश है और न दुराग्रह का अंश— केवल विशुद्ध सत्य का आग्रह है। उन्होंने अनेकांत को आत्मसात करके ही अपनी तर्कबुद्धि को श्रद्धा का परिपूरक बनाया है। तर्क द्वारा सत्य को जाना जाता है, किंतु एक तर्क से जिस सत्य को जानते हैं, प्रति-तर्क द्वारा उस सत्य को काटा भी जा सकता है। इसीलिए तर्क को 'अप्रतिष्ठित' कहा गया है। सत्य को तर्क द्वारा जाना जाता है, किंतु सत्य पर स्थिर रहने की सामर्थ्य श्रद्धा ही प्रदान करती है। युवाचार्यश्री महाश्रमणजी में इसे साक्षात घटित होते देखा जा सकता है।

सत्य अथवा धर्म का ही दूसरा पर्याय ऋजुता है। 'स्वभाव' में स्थित हुए बिना 'ऋजु' नहीं बना जा सकता। युवाचार्यश्री महाश्रमणजी अपनी सरलता के कारण सहज ही जनता के विश्वास-भाजन बने हैं। उनकी सरलता ही उनकी आध्यात्मिक ऊंचाई को प्रतिध्वनित करती है। युवाचार्यश्री महाश्रमणजी के साथ व्यवस्था पक्ष भी जुड़ा है। व्यवस्था में सरलता काम्य तो है, किंतु एक समस्या यह भी है कि सामान्यजन सरलता का उपयोग अपनी स्वार्थपूर्ति हेतु भी कर लेते हैं। अतः सरलता के साथ सजगता भी आवश्यक है, जिससे व्यक्तिगत स्वार्थपूर्ति के लिए उसका दुरुपयोग न हो।

तेरापंथ धर्मसंघ कोई छोटा संगठन नहीं है। उसमें कार्य करने वाले व्यक्तियों की संख्या भी उत्तरोत्तर बढ़ रही है। ऐसे में अपनी पीड़ा व्यक्त करने वालों की लंबी कतार सदा बनी रहती है, तो युवाचार्यश्री महाश्रमणजी की करुणा का अजस्र स्रोत भी सदा बहता रहता है। ऐसी करुणा तभी संभव है जब वह सहज, स्वाभाविक एवं ऋजुता से उद्‌बुद्ध हो। महाकवि कालिदास ने तप के प्रसंग में पार्वती के शरीर को स्वर्ण के कमल का बना हुआ कहा था, जो कमल की तरह कोमल होने पर भी स्वर्ण की तरह तेज से देदीप्यमान था। युवाचार्यश्री महाश्रमणजी का अंतस करुणा से आर्द्र होने के कारण कमल की तरह कोमल तो है ही, संयम मार्ग पर दृढ़ होने के कारण कंचन की तरह खरा भी है। संयम मार्ग में प्रमाद भाव का आक्रमण संभावित है। निरंतर जागरूकता ही इस आक्रमण से साधक को बचा सकती है। आचार्यश्री तुलसी और आचार्यश्री महाप्रज्ञजी से सतत जागरूकता का अवदान युवाचार्यश्री महाश्रमणजी में शत-प्रतिशत उतरा है। तेरापंथ के भविष्य के प्रति यह हर किसी को आश्वस्त करता है।

व्यक्ति इतने आवरण ओढ़े रहता है कि उसके यथार्थ रूप को देख पाना आसान नहीं होता। आचार्यश्री तुलसी और आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की क्रांत दृष्टि ने मुनि मुदित के भीतर छिपी हुई उज्ज्वलता को देखा और भावी उत्तराधिकारी के रूप में जब उनका नाम सामने आया तो जनसमूह के चेहरे पर संतोष मिश्रित उल्लास उभरता हुआ नजर आया। चतुर्विध धर्मसंघ का एक स्वर में हृदय से अनुमोदन तभी संभव है जब वह व्यक्ति अजातशत्रु हो। दिखावटी व्यवहार से अजातशत्रु उत्पन्न नहीं होता, इसके लिए अहिंसा में प्रतिष्ठिति आवश्यक है। —**अहिंसायाः प्रतिष्ठायां वैर त्यागः**—पतंजलि का यह सूत्र युवाचार्यश्री महाश्रमणजी में घटित होता है।

अभी तो सूर्योदय का प्रकाश है, दोपहर के प्रकाश का दर्शन अभी शेष है। भविष्य के गर्भ में छिपे इस देदीप्यमान व्यक्तित्व से तेरापंथ और जैन समाज ही नहीं, संपूर्ण मानवता को बड़ी आशाएं हैं। ❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

● आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।

●● रचनाएं 'फुलस्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।

●●● फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

वे अपने ही बलबूते पर आगे बढ़े और जहां परिस्थितियों ने उन्हें पीछे ढकेलने का प्रयास किया, वहां भी उन्होंने अपनी प्रगति का द्वार खोज निकाला। वे बहुत साहसी और निर्भीक थे। अपनी बात और धुन के भी वे पक्के थे। चापलूसी का जीवन न उन्हें कभी पसंद था और न वे दूसरे की चापलूसी के इच्छुक रहे। आज इधर और कल उधर झुक जाने वाली प्रवृत्ति उनमें नाममात्र को भी नहीं थी। वे अपनी बात कहने में न कभी झिझकते थे और न कभी आशंकाओं से घबराते थे। जो बात उनके दिल में नहीं जचती, वह प्रायः दूसरों के द्वारा तब तक जचाई नहीं जा सकती थी, जब तक कि तथ्यों के माध्यम से सिद्ध नहीं कर दी जाती। साधारण व्यक्तियों की भाषा में वे एक अक्खड़ व्यक्ति थे, परंतु मर्मज्ञ व्यक्ति की दृष्टि में वे एक सिद्धांतवादी व्यक्ति थे।

आचार्यश्री डालगणी : साहस, निर्भीकता और विनयशीलता का अद्भुत संगम

❑ मुनि बुद्धमल्ल ❑

वह जयाचार्यश्री का युग था। तेरापंथ में स्वामी भीखणजी के समय से ही व्यक्तिगत शिष्य बनाने पर प्रतिबंध था, परंतु दीक्षा देने पर कोई प्रतिबंध नहीं था। वर्तमान आचार्य का शिष्य बना कर किसी भाई या बहिन को दीक्षा प्रदान की जा सकती थी। इसी आधार पर बालक डालचंद के परिजनों ने मुनि हीरालालजी से प्रार्थना की कि आप डालचंद को दीक्षा प्रदान कर दें।

मुनिश्री ने किशोर डालचंद की प्रकृति आदि विषयक कुछ जानकारी तो कर ली थी और कुछ परिजनों आदि से पूछताछ करके प्राप्त कर ली। उनकी तीव्र विराग भावना को भी उन्होंने परखा। सब प्रकार से संतुष्ट होने पर उन्होंने संवत 1923, भाद्रपद कृष्णा द्वादशी के दिन पुष्य-नक्षत्र में उन्हें दीक्षा प्रदान कर दी।

ज्ञानार्जन

दीक्षित होने के बाद डालमुनि ने अपने-आप को ज्ञानार्जन में लगा दिया। उनकी ज्ञान-पिपासा ने जयाचार्यश्री को आकृष्ट किया। उन्होंने संवत 1925 से संवत 1928 तक अपने साथ रख कर अध्ययन करने का अवसर प्रदान किया। वे वर्ष उनके सैद्धांतिक ज्ञान के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुए। उन्होंने आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, नंदी और बृहत्कल्प—ये पांच सूत्र कंठस्थ कर लिए। उनकी स्वाध्याय-वृत्ति बहुत तीव्र थी, अतः जो ज्ञान कंठस्थ कर लेते, वह प्रायः अस्खलित रूप से उन्हें याद रहता।

कमाई की पड़त

आगम ज्ञान के साथ-साथ डालमुनि व्याख्यान आदि कंठस्थ करने में भी बहुत रुचि रखा करते थे। एक बार उन्होंने 'प्रत्येक-बुद्ध' का व्याख्यान सीखने का निश्चय किया। उन्होंने विनयपूर्वक जयाचार्यश्री से व्याख्यान की प्रति मांगी। जयाचार्यश्री ने फरमाया—

'प्रति सरदारांजी के पास है। तुम मांग लो।' डालमुनि तत्काल सती सरदारांजी के पास गए और दोनों घुटने भूमि पर टिका कर नम्रभाव से बैठे तो साध्वीप्रमुखाश्री सरदार सती ने हाथ जोड़ कर पूछा—'कहो बालमुनिजी! कैसे पधारे हो?'

उन्होंने अपनी स्वाभाविक नम्रता से बद्धांजलि रहते हुए कहा—'महासतीजी! मुझे 'प्रत्येक बुद्ध' के व्याख्यान की प्रति चाहिए। मैं उसे कंठस्थ करना चाहता हूं। पूज्य गुरुदेव ने फरमाया है—आपके पास से ले लूं।'

महासतीजी—'कितने दिनों में आप उसे याद कर लेंगे?'

डालमुनि—'आप जितने दिनों में कर लेने को फरमाएंगी, मैं उतने ही दिनों में याद करके सुना देने का विचार रखता हूं।'

महासतीजी उनके इस विनयी व्यवहार और कंठस्थ करने के दृढ़ निश्चय से बहुत प्रसन्न हुईं। उन्होंने पुस्तकों में से वह प्रति मंगवाई और उन्हें सौंप दी। वह प्रति 13 पन्नों (26 पृष्ठों) में लिखी हुई थी। डालमुनि प्रतिदिन एक पन्ना कंठस्थ करते और अस्खलित सुना देते। इस प्रकार 13 दिनों में उन्होंने उस बृहत् व्याख्यान को कंठस्थ कर लिया और वह 'पड़त' वापस साध्वीप्रमुखाश्री को सौंप दी।

डालमुनि की स्थिर बुद्धि और कंठस्थ करने की क्षमता से साध्वीप्रमुखाश्री बहुत प्रभावित हुईं। कहा जाता है कि जयाचार्यश्री का आदेश लेकर उन्होंने वह 'पड़त' पारितोषिक के रूप में उन्हें ही सौंप दी। वह प्रति आजीवन उनके पास रही। समय-समय पर वे उसे दिखाते हुए फरमाते—'यह मेरी खरी कमाई की 'पड़त' है।' आज भी वह संघ-भंडार में सुरक्षित है।

सिद्धांतवादी व्यक्ति

डालमुनि की योग्यता और क्षमता का अंकन करते हुए संवत 1930 में जयाचार्यश्री ने उनको अग्रणी बना दिया। उनके अग्रणी जीवन की समग्रता का निरीक्षण-परीक्षण करने के पश्चात् यह स्पष्ट जाना जा सकता है कि वह बहुत ही प्रभावशाली रहा। वे अपने ही बलबूते पर आगे बढ़े और जहां परिस्थितियों ने उन्हें पीछे ढकेलने का प्रयास किया, वहां भी उन्होंने अपनी प्रगति का द्वार खोज निकाला। वे बहुत साहसी और निर्भीक थे। अपनी बात और धुन के भी वे पक्के थे। चापलूसी का जीवन न उन्हें कभी पसंद था और न वे दूसरे की चापलूसी के इच्छुक रहे। आज इधर और कल उधर झुक जाने वाली प्रवृत्ति उनमें नाममात्र को भी नहीं थी। वे अपनी बात कहने में न कभी झिझकते थे और न कभी आशंकाओं से घबराते थे। जो बात उनके दिल में नहीं जचती, वह प्रायः दूसरों के द्वारा तब तक जचाई नहीं जा सकती थी, जब तक कि तथ्यों के माध्यम से सिद्ध नहीं कर दी जाती। साधारण व्यक्तियों की भाषा में वे एक अक्खड़ व्यक्ति थे, परंतु मर्मज्ञ व्यक्ति की दृष्टि में वे एक सिद्धांतवादी व्यक्ति थे।

अपने अग्रणी-काल के प्रथम दशक में उन्होंने केवल दो चातुर्मास ही स्वतंत्र रूप से किए। प्रथम संवत 1931 का कानोड़ में और दूसरा संवत 1939 का छापर में। आठ चातुर्मासों में से पांच जयाचार्यश्री के साथ किए। उसके पश्चात् के चौदह चातुर्मासों में केवल एक संवत 1943 का चातुर्मास उन्होंने मघवागणी के साथ किया और शेष तेरह स्वतंत्र रूप से किए।

डालमुनि ने अपने अग्रणी-काल में विभिन्न क्षेत्रों में सहस्रों-सहस्रों व्यक्तियों को प्रतिबोध दिया। उनमें बहुत से सुलभ बोधि बने तो सैकड़ों सम्यक्त्वी और बारहव्रती श्रावक बने। दस व्यक्तियों ने उनके पास संयम-व्रत भी ग्रहण किया। उनमें आठ भाई तथा दो बहिनें थीं।

कच्छ के पूज्य

अग्रणी काल में डालमुनि के विहार-क्षेत्रों में कच्छ का स्थान सर्वोपरि कहा जा सकता है। अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा वहां अधिक जाना हुआ। कच्छ की जनता भी उनसे बहुत प्रभावित हुई। वहां के श्रावकों ने भी उनको कच्छ भेजने के लिए अनेक बार दूर-दूर तक जाकर आचार्यश्री के समक्ष याचनाएं कीं। कच्छ में डालमुनि ने तीन बार पदार्पण किया और पांच चातुर्मास किए। प्रत्येक बार में वहां की जनता उनके प्रति अधिकाधिक भक्तिपरायण होती गई। उस समय लोग उन्हें कच्छ के पूज्य कहने लगे।

आचार्यश्री डालगणी ने अपने जीवन काल में अनेक यात्राएं कीं। उन यात्राओं के संस्मरण बहुत प्रेरक और रोमांचक हैं।

निराकरण निरर्थक आरोप का

एक दिन डालमुनि और मुनि हंसराजजी पानी लाने

के लिए साथ-साथ जा रहे थे। जब वे बाजार में से गुजरे तब स्थानीय व्यक्ति, जो कि तेरापंथ से बड़ा द्वेष रखते थे—आस-पास खड़े अपने ही साथी लोगों का ध्यान आकृष्ट करते हुए जोर-जोर से कहने लगे—'देखिए! देखिए! ये तेरापंथी साधु मार्ग में पानी गिराते हुए जा रहे हैं। इस तरह पानी गिराते हुए चलना साधु को नहीं कल्पता। ये कैसे साधु हैं जो अपने कल्प का भी ध्यान नहीं रखते?'

डालमुनि ने ठहर कर उनसे पूछा—'श्रावकजी! क्या कह रहे हैं?'

इस पर वे और भी तेज होते हुए बोले—'कह रहे हैं, वह झूठ थोड़े ही कह रहे हैं। तुम तेरापंथी लोग किसी की सुनते थोड़े ही हो। कितनी देर से पानी गिराते चले जा रहे हो, कुछ कल्प-अकल्प का भी पता है?'—वे ऐसे प्रवाह से बोल रहे थे कि कुछ ही क्षणों में वहां उस एकपक्षीय विवाद को सुनने के लिए भीड़ एकत्रित हो गई।

डालमुनि ने जब यह देखा कि लोग काफी इकट्ठे हो गए हैं और यह भाई अपनी झूठी बात को भी बड़े जोर-शोर से दुहराए जा रहा है, तब उन्होंने सोचा कि यदि हम इस बात का कोई स्पष्टीकरण किए बिना ही चले जाएंगे तो लोग इसकी बात को सत्य मान कर हमें गलती पर ठहराएंगे। वे उस बात का प्रतिवाद करने के लिए 'मालदासजी की सेरी' के नुक्कड़ पर स्थित एक दुकान की चौकी पर चढ़ गए और एकत्रित जनसमुदाय से कहने लगे—'देखिए! यह भाई जो कुछ कह रहा है, उसे तो आप सुन ही चुके हैं, अब मैं भी इस विषय में आपको कुछ बतला दूं तो ठीक रहेगा।' उन्होंने झोली से अपना पात्र निकाला और औंधा करते हुए सबको दिखलाया। सूखे गलने को भी उन्होंने ऊंचा करके हवा में लहरा दिया।

उन्होंने कहा—'हमने अभी तक पानी लिया ही नहीं है, तब पानी गिराते हुए चलने की बात पैदा ही कैसे हो सकती है? हम तो पानी लेने के लिए जा रहे हैं। इस भाई ने संभवतः यह समझ लिया कि हम पानी लेकर आ रहे हैं। यदि हम पानी लेकर भी आते, तो भी पानी न गिरने पर गलत आक्षेप करना उचित नहीं होता, परंतु यह तो पानी न होने पर भी उसके गिराने का आक्षेप लगा रहा है?'

एकत्रित लोगों को जब यह पता लगा कि वह व्यक्ति निरर्थक ही साधुओं पर आरोप लगा रहा है, तब उन्होंने उसे फटकारा। खिसियाया वह वहां से चल पड़ा।

हाकिम को झिड़की

संवत 1944 का चातुर्मास डालमुनि ने गंगापुर में किया। स्थानकवासी आचार्य हुकमीचंदजी के संप्रदाय के मुनि प्रतापजी का चातुर्मास भी वहीं था। वे बीच-बीच में शास्त्रार्थ के लिए भी आह्वान करते रहते थे। चातुर्मास में शास्त्रार्थ के लिए अनेक बार बातें चलीं, परंतु उसके लिए कोई उभय सम्मत समय निश्चय नहीं हो सका। चातुर्मास के पश्चात् डालमुनि जब देवरिया पधारे, तब वहां शास्त्रार्थ का निश्चय हुआ।

नियत स्थान पर और नियत समय पर शास्त्रार्थ प्रारंभ हुआ। उदयपुर निवासी पन्नालालजी हिरण भी शास्त्रार्थ सुनने के लिए आए। वे उस समय साढ़ा गांव के नायब हाकिम थे। शास्त्रार्थ के अंतर्गत वे एक पक्ष को सबल बनाने के लिए बीच-बीच में बोलने लगे। स्पष्ट था कि पक्ष-विशेष पर अपनी सहमति प्रकट करते हुए वे जनता को प्रभावित करने के लिए अपने प्रभाव का उपयोग कर रहे थे।

डालमुनि को उनका वह व्यवहार बहुत अनुपयुक्त लगा। एक-दो बार उन्होंने उनको सांकेतिक रूप से चेताया भी, परंतु उन्होंने उस चेतावनी पर कोई ध्यान नहीं दिया और उसी प्रकार अपना कार्य करते रहे। डालमुनि ने जब देखा कि वे इस प्रकार से मानने वाले नहीं हैं, तो उन्होंने परिषद् के सामने उन्हें झिड़कते हुए कहा—'आपकी यह हाकिमी गृहस्थों पर ही चल सकती है, साधुओं पर नहीं। यहां जो चर्चा हो रही है, वह आपको नहीं, किंतु जैन आगमों को प्रमाण मान कर हो रही है। सत्य का निर्णय आपके अनुमोदन से नहीं, आगम के अनुमोदन से होगा।'—मुनिश्री की उस झिड़की के पश्चात् फिर बोलने का साहस ही बेचारे हाकिम को नहीं हुआ।

सिद्ध क्षेत्र में

एक बार डालमुनि पालीताणा से शत्रुंजय पर्वत पर पधारे। शत्रुंजय पर्वत जैन मूर्तिपूजकों का एक प्रमुख तीर्थ-क्षेत्र है। उस पर अमूर्तिपूजक तेरापंथी साधुओं को देख कर अन्य साधु वर्ग को सुखद आश्चर्य हुआ। उन्होंने सस्मित व्यंग्य करते हुए डालमुनि से कहा—'अब तो सिद्धक्षेत्र में आ गए हो, तीर्थयात्रा अच्छी तरह से कर

लेना। यह ऐसा प्रभावक क्षेत्र है कि यहां एक बार आने मात्र से ही जीव सिद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है।'

डालमुनि ने भी तत्काल उसी प्रकार स्मयमान मुद्रा में उनसे पूछा—'आपका जीव यहां कितनी बार उत्पन्न हुआ?'

वह एक शास्त्रीय प्रश्न था, अतः उसका शास्त्रीय आधार पर ही उत्तर देते हुए अन्य मुनि ने कहा—'अनंत-बार।'

डालमुनि ने तब फिर मुस्कराते हुए कहा—'आप इसे सिद्धक्षेत्र मानते हैं और आपका जीव यहां अनंत बार उत्पन्न होने पर भी सिद्ध नहीं हुआ। ऐसी स्थिति में आपका उपर्युक्त कथन युक्तिसंगत नहीं ठहरता। अतः हमारी चिंता छोड़िए। अपनी चिंता करिए कि अभी तक आप स्वयं यहीं कैसे घूम रहे हैं?'

उन मुनि के पास डालमुनि के उक्त कथन का कोई उत्तर नहीं था। वे चुपचाप गंतव्य की ओर आगे बढ़ गए। डालमुनि भी पालीताणा पधार गए।

हमारी मान्यता सत्य हुई तो

उदयपुर में डालगणी के नए संपर्क में आने वालों में एक बच्छराजजी सिंघी थे। सिंघीजी जोधपुर के राज-मुसद्दी थे, परंतु नरेश से अनबन हो जाने के कारण उदयपुर आ गए थे। महाराणा उन्हें घर बैठे एक हजार रुपये मासिक दिया करते थे। यद्यपि वे मूलतः वैष्णव धर्म को मानने वाले थे। तेरापंथ से उनका कोई विशेष संबंध नहीं था। फिर भी कुछ भ्रांत धारणाओं के कारण तेरापंथ की निंदा करने में काफी रस लिया करते थे। महोत्सव के अवसर पर अपने ही एक मित्र से प्रेरित होकर वे आचार्यश्री डालगणी के दर्शन करने के लिए आए। तब उनको साधुओं का आचार-विचार बतलाया, तेरापंथ की मर्यादाओं से अवगत किया और भ्रांत धारणाओं के आधार पर की जाने वाली निंदात्मक प्रवृत्ति का उपालंभ भी दिया। उस एक दिन के सत्संग से वे इतने प्रभावित हुए कि बहुधा आने लगे। आचार्यश्री डालगणी के व्याख्यानों ने तो उनको रस-सिक्त कर दिया। वे उनके पक्के भक्त बन गए।

कुछ दिनों पश्चात् डालगणी ने उदयपुर से नाथद्वारा की ओर विहार किया। उस क्रम में वे भुवाणा पधारे। पाली प्रवास के दौरान आए ज्वर की निर्बलता अभी तक पूर्णरूप से मिट नहीं पाई थी, फिर विहार से उनकी आकृति पर थकान के चिह्न स्पष्ट झलकने लगे थे। उदयपुर से काफी लोग उस दिन दर्शन-सेवा के लिए वहां पहुंचे। उनमें सिंघीजी भी थे। आचार्यश्री को लक्ष्य करते हुए उन्होंने कहा—'आपके पिछले ज्वर की निर्बलता तो अभी तक मिट भी नहीं पाई है और आपने आगे विहार कर दिया। कभी-कभी आपके नियमों और कष्टाचरणों को देख कर यह चिंता होने लगती है कि खाने-पीने और मौज करने की हमारी मान्यता यदि ठीक निकली, तो आपका यह सारा कष्ट-सहन निरर्थक ही जाएगा।'

आचार्यश्री डालगणी ने उनके कथन का कोई प्रतिकार नहीं करते हुए सीधा उनसे प्रश्न किया—'इससे अधिक तो कुछ नहीं होगा न?'

सिंघीजी ने कहा—'और फिर क्या होगा?'

डालगणी ने फिर एक प्रश्न करते हुए फरमाया—'और यदि हमारी मान्यता सत्य निकली तो?'

सिंघीजी ने हंसते हुए कहा—'तब तो मेरे जैसे लोगों के इतने जूते पड़ेंगे कि धरती भी नहीं झेल पाएगी।'—अनायास ही सारा वातावरण एक सरस हास्य से भर गया।

दस मन का हलुआ

मेवाड़ से थली की ओर पधारते हुए आचार्यश्री डालगणी ब्यावर पधारे। वहां स्थानकवासी संप्रदाय के अनेक व्यक्ति चर्चा-वार्ता करने के निमित्त उनके पास आए। बातचीत के सिलसिले में एक व्यक्ति इतना क्रुद्ध हो गया कि अंट-संट बोल उठा। उसने कहा—'आप लोगों से बात करना व्यर्थ है। आपने तो अभी-अभी मार्ग के एक गांव में दस मन का हलुआ बनवा कर ले लिया।'

डालगणी ने आश्चर्यान्वित होकर उस बात को दुहरा कर पूछा—'क्या कहा? दस मन का हलुआ?'

वह व्यक्ति और अधिक जोर देते हुए बोला—'हां-हां, दस मन का हलुआ।'

डालगणी ने तब अपने स्वर को और भी धीमा करते हुए पूछा—'आटे का या मैदे का?'

उसने कहा—'आटे का।'

डालगणी ने तब उपस्थित लोगों से पूछा—'क्यों भाई! दस मन आटे में चीनी, घी और पानी मिलाने पर कितना हलुआ होता है?' उनमें से ही एक व्यक्ति ने

कहा—एक मन आटे का आठ मन हलुआ होता है। उसमें आटे जितना ही घी, दुगुनी चीनी और चौगुना पानी मिलाना होता है।

डालगणी ने हिसाब बतलाते हुए फरमाया—'तब दस मन आटे का अस्सी मन हलुआ हुआ। अब जरा सोचो तो सही कि अस्सी मन हलुआ हम कैसे लाए होंगे और कैसे उसे खाया होगा? राजनगर से विहार करने के पश्चात् बाईस साधु और सात साध्वियां—यों उनतीस 'ठाणे' हमारे साथ रहे हैं। तीसवां 'ठाणा' उस दिन से आज तक हुआ ही नहीं, अतः तुम्हारे हिसाब से हम में से प्रत्येक व्यक्ति ने उस दिन ढाई मन से भी अधिक हलुआ खाया, परंतु क्या यह बात संभव लगती है?'

सबके सामने अपनी बात को नीचे गिरती देख कर उस व्यक्ति ने संभलते हुए कहा—'मैंने तो जैसा सुना है, वैसा कहा है। लिया या नहीं लिया, यह आप जानें।'

डालगणी ने फरमाया—'इतनी बुद्धि तो एक गंवार में भी मिल सकती है कि किसी गप पर विश्वास न करे और मुंह से बात निकालने से पहले उसकी सत्यता या असत्यता को तौल ले।'

ऐसे थे श्री डालगणी। वे तेरापंथ के सप्तम आचार्य थे। उनका पूरा नाम आचार्यश्री डालचंदजी था। वे मालव देश की प्राचीन राजधानी उज्जयिनी के निवासी थे। उनके पिता का नाम कनीरामजी तथा माता का जड़ावांजी था। वे ओसवाल जाति के अंतर्गत पीपाड़ा गोत्र के थे। उनका जन्म संवत 1909, आषाढ़ शुक्ला चतुर्थी, सोमवार को अश्लेषा नक्षत्र में हुआ।

बालक डालचंद को पिता का लाड़-प्यार अधिक नहीं मिला। पिता की असामयिक मृत्यु का असर माता जड़ावांजी पर होना स्वाभाविक था। समय और परिस्थितियों का असर किशोर डालचंद पर ऐसा पड़ा कि ग्यारह वर्ष की उम्र में ही वह अत्यधिक जागरूक और समझदार माना जाने लगा। दूसरी ओर मां जड़ावांजी में अनासक्त भाव उत्तरोत्तर बढ़ने लगे। जड़ावांजी ने अंततः संवत 1920 में आषाढ़ शुक्ला तेरस को दीक्षा ग्रहण कर ली। अब किशोर डालचंद अकेला ही परिवार के अन्य सदस्यों के साथ रहने लगा, पर साधु-साध्वियों के संपर्क में पहले से कहीं अधिक आने लगा और उसके स्वाभाविक प्रभाव का परिणाम यह हुआ कि संवत 1923, भाद्रपद कृष्णा द्वादशी को किशोर डालचंद ने भी दीक्षा-व्रत स्वीकार कर लिया। अब वे डालमुनि हो गए। आपकी कुशाग्रता व दृढ़ निश्चयता का ही फल रहा कि संवत 1954, पौष कृष्णा तृतीया को लाडनूं में आचार्य-पद पर आरूढ़ हो गए। लगभग साढ़े ग्यारह वर्ष तक आचार्यपद पर आसीन रहते हुए कोई 57 वर्ष की आयु में संवत 1966, भाद्रपद शुक्ला द्वादशी को लाडनूं में ही आपका स्वर्गवास हो गया।

यह वर्ष आपके निर्वाण का शताब्दी वर्ष भी है। जैन जगत और तेरापंथ के इतिहास में आपका नाम सदैव अमिट है। ❖

धर्म पर विचार करते समय हमें धार्मिक आचरण और धर्मसम्मत बल्कि शास्त्रसम्मत आचरण में फर्क करना होगा। शास्त्रसम्मत आचरण का किन्हीं विशेष परिस्थितियों में एक व्यवस्था को बनाए रखने में महत्त्वपूर्ण योगदान हो सकता है, लेकिन इसके बावजूद उसे तब तक धार्मिक आचरण नहीं माना जा सकता—और इसलिए उस आचरण से कोई धार्मिक उपलब्धि भी नहीं हो सकती—जब तक उसकी मूल प्रेरणा सहज बोध नहीं है। दूसरी ओर, यदि मूल अर्थों में धर्मानुभव से प्रेरित आचरण शास्त्रसम्मत नहीं है, या व्यवस्था पर आघात करता है—तब भी धार्मिक आचरण ही माना जाएगा, क्योंकि वह सहज बोध है, अर्थात् उसके माध्यम से हमारे अपने अहं का घेरा टूटता है और हम संपूर्ण सृष्टि के साथ एकत्व के बोध की ओर सहज उन्मुख हो रहे होते हैं। सारी धार्मिक साधना इस एकत्व के सहज बोध को प्राप्त होने की साधना है। धर्मशास्त्रों में निहित आचरण के नियमों का मूल उद्देश्य भी यही है, लेकिन संस्थान मूल प्रेरणा की बजाय औपचारिक आचरण को अधिक महत्त्व देने लगते हैं और उसका नतीजा यह होता है कि धर्म से नहीं शास्त्र और संस्थान से जुड़ जाते हैं और तब हमारा आचरण शास्त्रसम्मत होते हुए भी धार्मिक नहीं रह पाता।

—नन्दकिशोर आचार्य

—मैं अपनी टांग के बारे में बतला रहा था। मुझे लंगड़ाकर मंद गति से चलना पड़ता है। सीट के नीचे यह जो छड़ी पड़ी है—इसके सहारे के बगैर तो मैं एक कदम भी नहीं बढ़ा सकता। पर, श्रीमान। मुझे किसी बात का दुख नहीं। मैंने ज़िंदगी के सारे उतार-चढ़ाव देखे हैं। जैसा होना होता है; होकर रहता है। आदमी व्यर्थ ही भ्रम में पड़ा स्वयं को छलता है। ....आप मेरी बातों से ऊबने लगे हैं। ....निज़ामपुर भी पीछे छूट गया है। मैं खिड़की की ओर बैठा हूं न। आपसे बातचीत के बावजूद बाहर की टोह मैं रख रहा हूं। बस, अब बक्सर आया जाता है। यहां आप उतर जाएंगे और मुझे भूल कर अपने काम में लग जाएंगे। बहुत हुआ तो सोचेंगे, एक खब्ती बुड्ढा मिल गया था। पचास साल पहले ऋतु अपने क्रम से आया-जाया करती थी। पर, आज तो सब अस्त-व्यस्त है। पतझड़ में फूल उगाए जाते हैं और वर्षा में सूखा पड़ जाता है। बरसना शुरू हो आए तो रुकने का नाम नहीं लेता और सूखा बाद में बदल जाता है। हमारे ज़माने में लोग मन की बात एक-दूसरे से कह लिया करते थे। आज तो जो जितना घुन्ना, वह उतना ही सभ्य।

अंतराल

❑ सुदर्शन नारंग ❑

मेरे प्रश्न से आप चौंक तो नहीं गए? औपचारिकता का निर्वाह करने की आवश्यकता नहीं। कुछ घंटों का तो साथ ही है। आपको कहां जाना है, श्रीमान? बक्सर तक? मुझे थोड़ा आगे जाना है। यूं तो मैं भी बक्सर ही उतर सकता हूं। लेकिन, चोपले पर उतरने से आगे की बस जरा आसानी से मिल जाती है। अच्छा साथ हो तो रास्ता भी आसानी से कट जाता है। आप काफी सुलझे हुए व्यक्ति जान पड़ते हैं। मेरे प्रश्न का आपने अभी तक उत्तर नहीं दिया—शायद पढ़ाई कर रहे हैं। तो मेरा अनुमान गलत निकला। नौकरी की तलाश है? कहां-कहां एप्लाई कर रखी है? आकाशवाणी में...और टाइम्स में। तो आप कलाकार प्रवृत्ति के व्यक्ति हैं! आपने ठीक ही कहा, हम सब मजदूरी करते हैं। ओह! विदेश जाने का भी प्रयास कर रहे हैं? जापान जा रहे होंगे? क्षमा करें। मेरा अनुमान फिर गलत रहा। तो आप हंगरी या पोलैंड जाने का प्रयत्न कर रहे हैं। बहुत अच्छा है। मैं भी कभी विदेश जाने का स्वप्न देखा करता था। अब तो बस उम्र ही बीत गई।

क्या कहा आपने? मैं बूढ़ा नहीं लगता? श्रीमान, मुझे तो रिटायर हुए भी बीस बरस होने को आए हैं। मेरी आयु तिहत्तर वर्ष की है—तिहत्तर। थोड़ी-सी पेंशन भी मिलती है। गुजर हो ही जाती है। कुछ काम भी कर लेता हूं।...नहीं, इधर काम के सिलसिले से नहीं जा रहा। एक मौत हो गई है। क्या कहा आपने? यह उम्र मौतों और उत्सवों में सम्मिलित होने की नहीं। आप बजा फरमाते हैं। पर, मरने वाला मेरा सगा भाई था। छोटा भाई। हम बस दो ही भाई थे। मैं बड़ा और वह छोटा। मौत छोटे-बड़े को नहीं देखती। अपना-अपना समय सबका अलग-

अलग होता है। आप दुख न महसूस करें। वह भी साठ पार कर चुका था। उसके बच्चे बसरे रोजगार और प्रसन्न हैं। मेरे भी दो लड़के हैं। एक रेलवे में है। सिग्नलमैन। दूसरा सरकारी प्रेस में दफ्तरी है। मैं भी रेलवे में था। एक मुद्दत हो गई। ओह आपको छींक आ गई! बुरा मत मानिएगा। यह बुरी लत मुझे छुटपने में ही लग गई थी। कुछ लोगों को नसवार लेने की आदत से घृणा होती है। पर, आदत बहुत बुरी चीज है। आप क्या सोच रहे हैं? मेरे भारी-भरकम शरीर की तुलना आप बूचड़खानों के बाहर मंडराने वाले किसी गिद्ध से कर रहे होंगे? मैं बोल भी तो बहुत रहा हूं। यह मोटा नीला कोट उन्हीं दिनों का है, जब मैं रेलवे में था। अब तो एकदम बेजान हो चुका है। इसके कारण भी आपसी असुविधा महसूस हो रही होगी। यात्रा में ऐसी छोटी-मोटी असुविधाएं बर्दाश्त करनी ही पड़ती हैं।

इस रूट पर बसें बहुत रुक-रुक कर चलती हैं। यह कौन-सी जगह है—शायद गुलावठी है? और, आप ठीक कह रहे हैं। यह डासना ही है। गुलावठी दूसरे रूट पर है। इधर बहुत दिनों बाद आना हुआ है। बुढ़ापे के कारण भी आदमी सकपका जाता है। ठंड भी तो कितनी है। इस वर्ष तो ठंड ने कमाल ही कर दिया। आप जवान आदमी हैं। आपको शायद पाले की सुन अच्छा लग रहा हो। बूढ़े आदमी को तो पाला मौत दिखाई देता है। मैं मौत से नहीं डरता। अपना अब बिगाड़ भी क्या लेगी। एक-न-एक दिन तो ढहना ही है।

देख रहे हैं, कैसे धड़ाधड़ सवारियां भरे चला जा रहा है। छत पर बैठाने-भर की कसर है। वरना तो तिल रखने की भी जगह नहीं। इन पर कोई प्रतिबंध नहीं है। दम घुटने को आ रहा है। शीशा उठाने में जरा मदद करेंगे? कैसे जाम होकर रह गया है। आपके बक्सर में कुछ बंगाली परिवार भी होंगे? एक भी नहीं? यह कैसी अजीब बात है? क्या कहा आपने? मेरठ और गाजियाबाद में बहुत हैं। यह तो मैं भी जानता हूं। मैं भी बंगाली परिवार से ही संबंधित हूं। मेरे परदादा डेढ़ सौ वर्ष पूर्व बाबूगढ़ छावनी में आ बसे थे। बाबूगढ़ का नाम तो आपने सुन रखा होगा? बहुत खूबसूरत जगह है। छोटी-सी खूबसूरत जगह। वहां हारस बोर्डिंग सेंटर देखा है आपने? दुनिया के सबसे बढ़िया घोड़े और खच्चर पर बैठे हैं कभी आप? बड़ा चुस्त और वफादार होता है। खच्चर पैदा कैसे होता है, जानते हैं आप? इतना भी नहीं मालूम आपको! बहुत भोले हैं। गधे और घोड़े की 'मिक्स-ब्रीड' से खच्चर पैदा होता है। आप हंस रहे हैं? 'मिक्सड ब्रीड' हमेशा चुस्त और मजबूत होती है। आप अब तक हंस रहे हैं? क्या कहा आपने? खच्चर की तुलना किसी अन्य से मत कीजिए। आपकी यह मंद-सी मुस्कान मुझे जरा भी अच्छी नहीं लग रही। आपकी इस मुस्कान के पीछे छिपे भाव की मुझे खूब पहचान है। बाबूगढ़ के खच्चर फार्म की चर्चा से मेरा कतई आशय नहीं था कि उन खच्चरों को दोगला कह कर या दूसरों से तुलना कर उनका आप अपमान करें। आपको शायद मालूम नहीं, वे खच्चर अपनी पीठ पर कितना बोझा लाद पहाड़ों और चट्टानों को लांघ नेफा और लद्दाख में सैनिकों को रसद और शस्त्र पहुंचाते हैं। आप अब तक हंसे चले जा रहे हैं? क्या कहा आपने? ऐसा मत कहिए। उन जवानों के भाग खड़े होने के पीछे सेना का दोष नहीं था। यह भी सही है कि उन खच्चरों में से एक ने भी पीठ नहीं दिखाई थी। आप तो बाल की खाल खींचते हैं। मुझे कब इंकार है कि वातानुकूलित भवनों में बैठे सफेदपोशों को बर्फीली ठंड का अनुभव नहीं होता। फिर कहता हूं, आप एक बार बाबूगढ़ छावनी का फार्म देखने अवश्य जाएं। अद्भुत जगह है। और, वहां के लंबे-चौड़े दूर तक फैले घास के मैदानों और सीमेंट की बनी नालियों को भी गौर से देखें।

बातचीत में अनायास ही मैं दयनीय हो उठता हूं। आप इस ओर बिल्कुल भी ध्यान न दें। जीवन की प्रारंभिक स्मृतियों के रूप में मुझे मध्य रात्रि में भूख के कारण कुछ मांगने पर मां का गुड़ की डली और बासी रोटी देना याद आता है। तब मैं चार वर्ष का रहा होऊंगा। अपने विषय में उससे पहले का मुझे कुछ भी तो स्मरण नहीं। चने के आटे की बासी रोटी अब भी मेरी कमजोरी है। आप देख रहे हैं, अब तो मेरे सर के सारे बाल झड़ गए हैं। मुंह में दांत भी बिरले ही हैं। चार से तिहत्तर वर्ष के इस जीवन में कई बार मैंने भयंकर भूलें की हैं। कुछ अच्छे काम भी किए होंगे। पर, श्रीमान! यह सोच लेने के बाद भी कि अब चूक नहीं होगी, कुछ-न-कुछ गड़बड़ हो ही जाती है। दरअसल आदमी मरते दम तक भूलें और उनका सुधार करता रहता है।

आपको अवश्य बुरा लग रहा होगा, पर नसवार

सूंघना मजबूरी है। आप इस ओर देखिए ही मत। नसवार न चढ़ाने से यात्रा में मुझे क्या हो जाता है! वह दृश्य आपके लिए और भी असहनीय हो उठेगा। आयु के कुछ ऐसे तकादे होते हैं, जिनसे अभी आपका सामना नहीं हुआ। आपको बुरा लगना स्वाभाविक ही है। पर, श्रीमान! यात्रा में आदमी को नए से नया अनुभव प्राप्त होता है। यात्रा और पुस्तकें—ये अनुभव के ब्रह्म अस्त्र हैं।

क्या कहा आपने? मैं अपने बड़े लड़के के पास होता रहूंगा? जी नहीं। नहीं-नहीं। छोटे के पास भी नहीं। दस वर्ष से मैं और मेरी पत्नी लड़कों से अलग ही रहते आए हैं। आप क्या समझते हैं, लड़कों के पास रहने से हमें सुख-शांति प्राप्त होती? सोचते सभी ऐसा हैं। संतान का सुख हर एक के माथे नहीं लिखा होता। बुढ़िया की बचत धीरे-धीरे पोतों-दोहतों में बंट गई। पेंशन न होती, श्रीमान, तो मैं दाने-दाने को मुहताज हो गया होता। खैर, जाने दीजिए। संतान ऐसी पूंजी है, जिसे भुना पाना हर किसी के भाग्य में नहीं होता। बुढ़िया कभी-कभी ही आती है। हाथ-पैर चलते हों तो दूसरों की ओर ताकने की जरूरत भी नहीं होती।

आप व्यर्थ ही सशंकित हो रहे हैं। मुझे ऐसा-वैसा कोई भी रोग नहीं। यह रुक-रुक कर जो खांसी उठती है श्रीमान! यह तो बुढ़ापे के साथ लाजिमी है। जरा सोचें। इतने लंबे जीवन में ऐसा कैसे संभव है कि आदमी कभी रुग्ण हुआ ही न हो? एक मुद्दत से मुझे जोड़ों के दर्द की शिकायत है। पांवों के ऊपर टखनों में, घुटनों में, पीछे रीढ़ की हड्डी में, उंगलियों के पपोटों, कोहनियों और कंधों में। अकसर किसी-न-किसी अंग में अथवा सभी में दर्द जोर मारता रहता है। छाती के दायें-बायें, ऊपर-नीचे अकसर कुछ सरकता रहता है। बाय-बादी का दर्द भी कभी-कभी भयंकर यातना देता है। बीच में तो मुझे पेट की खराबी ने बुरी तरह दाब लिया था। गैस की बीमारी दुश्मन को भी न लगे। पेट में ऐसी ऐंठन उठती है कि आदमी मर जाना बेहतर समझता है। न खाने का समय, दाना डालते ही पेट में कुलबुलाहट मच उठती है और खाते के साथ ही अफारा होने लगता। कभी-कभी तो ताज्जुब होता है कि इतनी लंबी अवधि का निरर्थक जीवन हम जी कैसे लेते हैं? बाल झड़ जाने और शरीर के फूल जाने के कारण मेरा तो कद भी कई इंच छोटा हो गया है। और, श्रीमान! आप तो मुझे सीट पर बैठा हुआ ही देख पाएंगे। इस बात का मुझे बेहद संतोष है कि आपका गंतव्य मेरे से पहले ही आ जाने के कारण आप उतर जाएंगे। मुझे चलता हुआ देख कर संभवतः आपको गहरी वितृष्णा हो और यह जो आप मेरी बातचीत में रुचि ले रहे हैं, न ले पावें। मेरी बायीं टांग को फालिज मार गया था और बरसों मैं चारपाई पर पड़ा रहा। डाक्टर, हकीम और वैद्य—लाखों नुस्खे बेकार हो गए। आप चाहे जो भी सोचें, अपनी बात मैं सही-सही सामने रखना चाहता हूं। मुझे तो लगता है, हम सबका भाग्य हमारे माथे पर पैदा होने से पहले ही लिख दिया जाता है। हमारे कंधों पर बैठा चित्रगुप्त दायें-बायें हमारे पाप-पुण्य का लेखा-जोखा तैयार करता रहता है। मृत्यु के बाद तुरंत हमें धर्मराज के सामने उपस्थित किया जाता है, जो कर्म-विधान के अंतर्गत हमारे आकाश अथवा पाताल में वास का निर्णय करता है।

—आप ठहरे नई रोशनी के व्यक्ति। भला आप इन बातों को कब मानेंगे!

—मैं अपनी टांग के बारे में बतला रहा था। मुझे लंगड़ाकर मंद गति से चलना पड़ता है। सीट के नीचे यह जो छड़ी पड़ी है—इसके सहारे के बगैर तो मैं एक कदम भी नहीं बढ़ा सकता। पर, श्रीमान। मुझे किसी बात का दुख नहीं। मैंने जिंदगी के सारे उतार-चढ़ाव देखे हैं। जैसा होना होता है; होकर रहता है। आदमी व्यर्थ ही भ्रम में पड़ा स्वयं को छलता है। ....आप मेरी बातों से ऊबने लगे हैं। ....निजामपुर भी पीछे छूट गया है। मैं खिड़की की ओर बैठा हूं न। आपसे बातचीत के बावजूद बाहर की टोह मैं रख रहा हूं। बस, अब बक्सर आया जाता है। यहां आप उतर जाएंगे और मुझे भूल कर अपने काम में लग जाएंगे। बहुत हुआ तो सोचेंगे, एक खब्ती बुड्ढ़ा मिल गया था। पचास साल पहले ऋतु अपने क्रम से आया-जाया करती थी। पर, आज तो सब अस्त-व्यस्त है। पतझड़ में फूल उगाए जाते हैं और वर्षा में सूखा पड़ जाता है। बरसना शुरू हो आए तो रुकने का नाम नहीं लेता और सूखा बाढ़ में बदल जाता है। हमारे जमाने में लोग मन की बात एक-दूसरे से कह लिया करते थे। आज तो जो जितना घुन्ना, वह उतना ही सभ्य। मेरी शायद आदत ही खराब है। मुझे तो भय होता है कि इतने लंबे सफर में मैं एकदम चुप रह गया, तो कहीं गूंगा ही न हो जाऊं। ....और औपचारिकता वश ही सही, आप मेरी बात सुन तो रहे हैं। इतना भी कौन करता है! यह सब

फिजूल की ही बातें हैं, ऐसा भी नहीं है। यात्रा में ही तो नए लोगों से पहचान होती है। आपसे जो भी गुफ्तगू हो जाए, अच्छा है। बोझ हलका हो जाता है।

एक काम की बात बताऊं आपको। बस में सीट हमेशा खिड़की के पास की लेनी चाहिए। वह दूर जो टीले दिखाई दे रहे हैं न—वास्तव में चट्टानें नहीं हैं। किसी नगर के आने का आभास है। सड़क से दूर बायें-दायें जो कस्बे बस जाते हैं, मुझे एकदम रहस्यमय जान पड़ते हैं। ऐसे नगरों के लोग अकसर प्रमुख धारा से कट जाते हैं। हमारे देश में बैलगाड़ी सभ्यता का अंत होगा कभी? डासना के पास जो पुलिया पड़ती है, उसकी ओर ध्यान गया है कभी आपका? कहते हैं, वहां एक काली चुड़ैल का वास है। ईंट-पत्थर और रेता खाने से ही उसका पेट भरता है। कोई कितना भी मेहनती इंजीनियर, ईमानदार ठेकेदार आ जाए, वह पुलिया कभी पूरी होने को नहीं आती। पांच वर्ष पहले जब मैं एक विवाह में सम्मिलित होने उधर आया था, तब भी पुलिया अधूरी ही थी और उड़ती हुई नजर आज देखा तो भी अधूरी ही जान पड़ी। आपका इधर आना-जाना काफी रहता होगा। बाबूगढ़ से थोड़ा आगे छुईया नाला-पुल तो आपने देखा होगा? उफ! ऐसा अभिशप्त बिंदु इस पूरे हाइवे में कहीं भी नहीं। अच्छे से अच्छा ड्राइवर वहां मात खा जाता है। श्रीमान! इतने ट्रक-गाड़ियां मैंने अन्यत्र कहीं उलटते नहीं देखे, जितने इस पुल पर। ऐसा पेचदार पुल है कि क्या बताऊं। करीब आध मील दूर पुल को सीधा करने के लिए जो दूसरा पुल बन रहा है, सड़क पर से धुंधला-सा दिखाई देता है। सुना है, आजकल वहां कंकरीट बिछाई जा रही है और रोड रोलर चलता रहता है। सड़क के किनारे दूर से ही एक झोंपड़ी दिखाई देती है। पिछली बार जब मैं इधर आया था तो काम जोरों पर था। उन दिनों तो वहां टेलीफोन के तार बिछाने वालों ने तंबू भी गाड़ रखे थे। आप गए हैं, कभी उधर? नया रास्ता चालू हुआ है, या अभी नहीं? सड़क सीधी करने में जिन खेतों की जमीन दब गई है, सुना है, उनको मुआवजा भी नहीं मिला है। पिछली बार इस बात को लेकर के बहुत हल्ला था। पूरे गांव ने भूख हड़ताल की थी। एक आदमी रोड रोलर के आगे ही लेट गया था।

वह गर्द-भरा आसमान देख रहे हैं! इस इलाके की विशेषता है। हर भू-भाग का अपना आसमान और अपना रंग होता है। क्या कहा आपने—यह सब व्यर्थ की बातों में ही रुचि होगी? पृथ्वीराज चौहान ने मुहम्मद गौरी को कई बार पराजित किया था, फिर भी अंतिम विजय मुहम्मद गौरी की हुई थी। अगली बार हमारी भी पराजय हो सकती है। देखते हैं, उस ओर किस कदर तैयारी हो रही है! शत्रु को कमजोर नहीं समझना चाहिए। आप मुझे यूं भृकुटि तानकर क्यों देख रहे हैं? आप गलत सोच रहे हैं। मैं देशद्रोही कतई नहीं हूं। ⋯नहीं⋯। आपको बुरा लगा है तो मैं इस विषय पर और नहीं कहूंगा।

क्या कहा आपने? मैं चुप हो जाऊं? मेरी बेसिर-पैर की बातों में आपको कोई रुचि नहीं। ज्यादा बोला तो शायद आप मुझे उठा कर बाहर पटक दें। पर नहीं, मेरी आयु का अवश्य ही आप कुछ खयाल करेंगे।

किस तरह की बातों में आपकी रुचि है, मैं अच्छी तरह समझ गया। ज्यादा से ज्यादा मुझे एक सनकी बूढ़ा समझ आप मेरी बातों की अवहेलना कर देंगे। पिछली बार जब मैं बीमार पड़ा था तो मुझे रेलवे के अस्पताल में भर्ती कर दिया गया था। उन दिनों युद्ध चल रहा था। जिस वार्ड में मेरा बैड था, वह एक लंबा-चौड़ा कमरा था। बायें हाथ की ओर उसमें खिड़कियां थीं, जो बाहर की ओर खुलती थीं। खिड़कियों पर गहरे रंग के परदे झूमते रहते। वार्ड के अंतिम छोर पर दरवाजा था, जो मरहम-पट्टी वाले कमरे में खुलता था। मेरी पंक्ति में जितने बैड थे, उनके मुंह खिड़कियों की ओर थे। कभी जब परदा उठा होता तो मरहम-पट्टी के कमरे का दृश्य वार्ड से ही दिखाई दे जाता। मरहम-पट्टी वाले कमरे में परली तरफ से भी एक दरवाजा था। कभी जब कोई रोगी मरने को होता तो उसके बैड के आस-पास परदा डाल दिया जाता, जिससे मरने वाले व्यक्ति को दूसरे रोगी न देख सकें। परदों के नीचे फर्श पर केवल डाक्टर और नर्सों के जूते तथा सफेद मौजे दिखाई देते। वह दृश्य मेरे भीतर कहीं गहरे तक अंकित हो गया है। कुछ बातें होती हैं जिन्हें हम चाह कर भी भूल नहीं पाते। मृत व्यक्ति को कंबल ढांप जब स्ट्रेचर पर लाद ले जाते, तो बैड खाली हो जाता और परदे हटा दिए जाते। कुछ क्षणों में दूसरा रोगी उसी बैड पर डाल दिया जाता और नया कंबल ओढ़ा दिया जाता। आप ही बताइए। मरने वाले रोगी के

शेष पृष्ठ 58 पर

कन्हैयालाल सेठिया की कविताएं

•

सापेक्ष!

सूरज के ढलने की वेला
धूप चढ़ी शिखरों पर!

नहीं पतन उत्थान स्वयं कुछ
यह सापेक्षित दर्शन,
कथ कर भी जो रहे अकथ वह
शब्दातीत चिरंतन,
गूंज गगन में गई हुई जब
मुरली मौन अधर पर!

जो समाप्ति है वहीं व्याप्ति है
परम गूढ़ यह चिंतन,
कर सकता अनुभूत द्रव्य से
जो तटस्थ वह चेतन,
मेघ बरस कर बिखरा, बूंदें
नाच रही लहरों पर!

गति की ही है परिणितियां ये
भिन्न अभिन्न परस्पर,
द्वंद्व मुक्त हो जीव स्वतः ही
बन जाता है ईश्वर,
क्षण जो जाते बीत वही फिर
बन जाते मन्वंतर!

•

प्रार्थना!

है नहीं शब्द से
यदि जुड़ी साधना!
मात्र है आत्म छल
वंचना प्रार्थना,

मर्म में पैठ तू
कर परम चिंतना,
जाएगी सहज बन
चेतना बंदना!

•

ढीट!

दीठ मिली पर जान-बूझ कर
बन कर रहा अदीठ,
आए कितनी बार न देखा
मैं हूं कितना ढीट?

सुनता रहा तुम्हारी पग ध्वनि
लौट गए प्रभु आप,
इच्छा हुई पुकारूं, बोला
अहं, रहो चुपचाप,

पर अब जब दृग ज्योति गई बुझ
तुम को रहा टटोल,
मेरी करुण गुहार द्वार दें
निज मंदिर का खोल!

•

महागीत!

संशय है दृग का
क्षितिजों के छोर,
लौटो हे बंधु,
अपनी ही ओर,

थामे हैं वल्गा
सूरज की काल,
अपना ही दीपक
रख तू संभाल,

अंतर में अनहद
बाहर रव घोर,
मिलना जो 'स्व' से
आओ निज ठौर,

लौटो हे बंधु
अपनी ही ओर!

•

निकष!

परख स्वयं को अभय निकष पर
तू कितना गत राग!

नहीं त्रास से मुक्त हृदय, मन
जब तक शेष कषाय,
द्वैत नहीं अद्वैत बनेगा
निष्फल अध्यवसाय,
आत्म रसायन अनुकंपा से
होगा राग अराग!

गज कितना बल युक्त किंतु है
लघु चींटी से भीत,
क्रिया वही जो प्रतिक्रिया से
होती स्वयं व्यतीत,
नहीं देह से किंतु वृत्ति से
होता फलित विराग!

बिना हुए भयमुक्त न होगा
विकच मैत्री का फूल,
कर करुणा के जल से सिंचित
माली अपना मूल,
स्वयं बनेगा विश्व जाएगा
जब संवेदन जाग! ❖

• 11 सितंबर (1919) पद्मश्री सेठियाजी का जन्म दिन है; अवसर विशेष पर उनका स्मरण करते हुए •

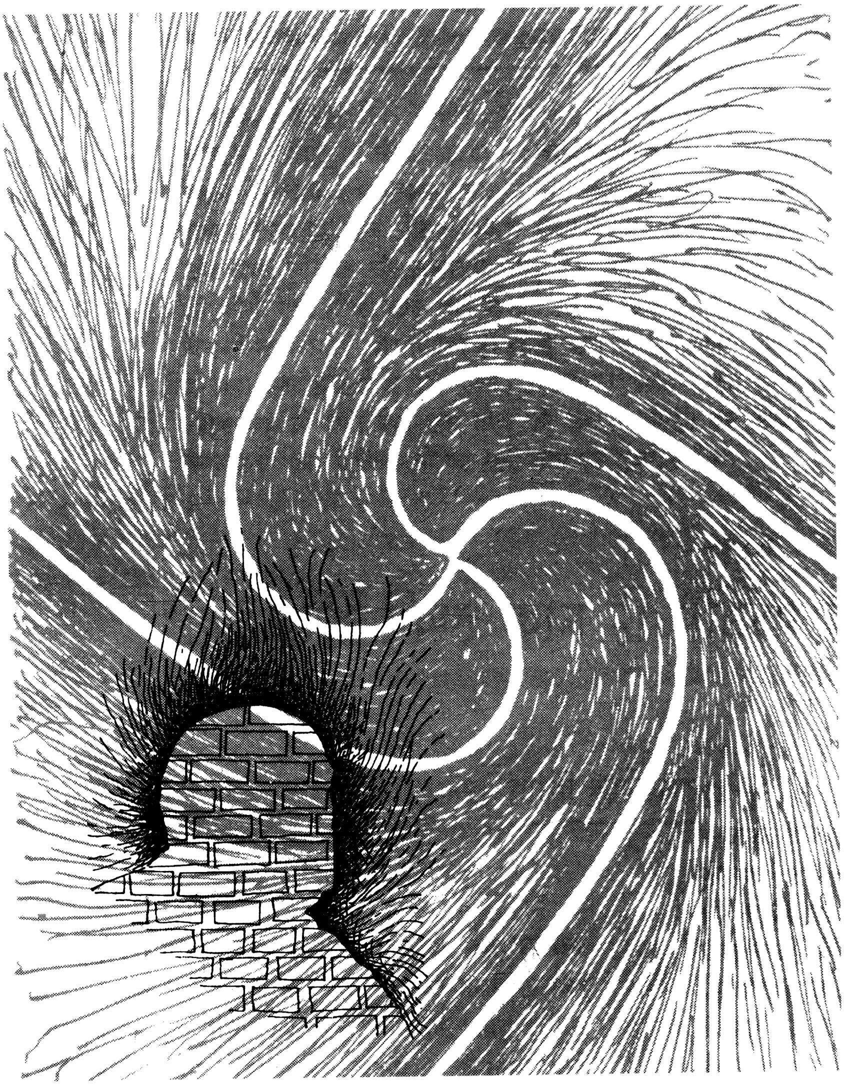

शीलन

मैं देह नहीं, देह से अलग हूं, मेरा सत्य-स्वरूप सुंदर और परिशुद्ध है—वह अशुद्ध नहीं होता। गलतियां तो देह के द्वारा होती हैं। मेरा शरीर अस्वच्छ होता है, पर मैं अस्वच्छ नहीं होता। देह से भिन्न आत्मा का भान ही शिक्षण है। जहां यह भान नहीं होता, वह हमारी शिक्षण-व्यवस्था नहीं, वह शिक्षण संस्था भी नहीं।

अगर कोई बच्चा अस्वच्छ दिखाई देगा, तो मैं उससे यह नहीं कहूंगा कि तू गंदा है। मैं उससे यही कहूंगा कि 'तू तो स्वच्छ है, पर तेरे शरीर पर कुछ गंदगी लग गई है। उसे तू साफ कर डाल।'

—आचार्य विनोबा भावे

• 11 सितंबर (1895) जन्म दिन का स्मरण करते हुए. •

वे आचारनिष्ठ थे। उनकी भावना थी—'मुहूर्त्तंज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम्'—अंगारे सा जीवन जीना है, चाहे मुहूर्त-भर ही जीऊं। धुआं बन कर लंबा जीना बेकार है। अतः वे पल-पल जागरूक रहे। विजयसिंहजी पटवा एवं वर्धमानजी को रात-भर जाग कर सम्यक् ज्ञान और सम्यक्त्व दीक्षा देने का उनका अभिक्रम इसका प्रमाण है। दया और दान, लौकिक और लोकोत्तर धर्म, हिंसा और अहिंसा के सिद्धांतों तथा द्रव्य और भाव की झीणी चर्चाओं को जन-जन के गले उतारने के लिए कितने-कितने उद्धरण प्रस्तुत किए, कितनी रातें जगाईं और कितने ही लोगों द्वारा उपहास किया गया, पर विधायक दृष्टिकोण के साथ सम्यक् रूप से उसे झेला। उस समय अनंत-अनंत कर्मों की उनकी निर्जरा होना स्वाभाविक ही था। एक-एक तत्त्व को समझा-समझा कर सैकड़ों-सैकड़ों व्यक्तियों की समस्याओं का, जिज्ञासाओं का सही समाधान उन्होंने दिया।

बा बुद्धि किण काम री पड़िया बांधे कर्म

❑ साध्वी गुप्तिप्रभा ❑

भगवान महावीर ने जिस विशुद्ध आध्यात्मिक धर्म का प्रतिपादन किया, उसका प्रारंभिक बिंदु है—आत्मा का संज्ञान। इसका अंतिम बिंदु है—आत्मोपलब्धि या आत्म-साक्षात्कार। जैनागमों में आचारांग-सूत्र आचार का प्रतिपादक है। मुनि जीवन का आधारभूत केंद्र भी आचारांग सूत्र ही है। इस संदर्भ में हम आचार्यश्री भिक्षु को देखें तो पाएंगे कि आचार्यश्री भिक्षु के मुनि जीवन का सर्वोत्तम लक्ष्य था—वीतरागता और जिनवाणी के माध्यम से सत्य की खोज। उनकी साधना थी—साधुता की शुचिता और साधन था—सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र। उनका सिद्धांत था—साध्य शुद्ध साधन।

मुनि भीखण ने प्रारंभ से ही आचारांग सूत्र के छट्ठे अध्ययन में दिए गए 'धुतों' की विशिष्ट साधना करना अपना लक्ष्य बनाया। धुत का अर्थ है—कर्मनिर्जरा। जिन-जिन हेतुओं से कर्मनिर्जरा होती है, उन सबकी धुत संज्ञा है। धुत साधना का प्रयोजन है—उन संयोगों का परित्याग, जिनसे ममत्व की चेतना परिपुष्ट होती हो। ममत्व चेतना का परित्याग आत्म-ज्ञान से होता है और आत्म-चेतना का जागरण होते ही हर प्रकार की आसक्ति की धारा मंद हो जाती है।

उत्कृष्ट वैराग्य भाव से ही प्राणधारा प्रबल हो जाती है। मुनि भीखण की प्राणधारा के प्रबल होते ही दृष्टि तथा दिशा में आमूल-चूल परिवर्तन हो गया। जीवन शैली और चिंतन शैली बदल गई। उन्होंने प्रथम धुत की साधना प्रारंभ की। इसका नाम है—'निजक धुत'—अर्थात् स्वजन के प्रति ममत्व चेतना का प्रकंपन।

सत्य को पकड़ने में राग-द्वेष पूर्ण मनःस्थिति सबसे बड़ी बाधा होती है। मुनि भीखण के विचारानुसार द्वेष की अपेक्षा राग अधिक बाधक होता है। द्वेष को तोड़ना सरल है, पर राग को तोड़ना कठिन और कठिनतर ही नहीं, कठिनतम काम है। मात्र पदार्थों का नहीं, विचारों और

व्यक्तियों का भी राग होता है। विचारों के राग पर विजय पाना पहुंचे हुए योगियों के लिए भी बहुत कठिन है।

शालीभद्र के एक क्षण के राग ने उन्हें मुक्ति से वंचित कर दिया था। मुनि भीखण ने सोचा कि मुझे अपनी चेतना को विचारों, संस्कारों, परंपराओं और सिद्धांतों का गुलाम नहीं बनना है, अपितु मूर्च्छा की प्राचीर को तोड़ आत्म-प्रज्ञ बनना है। अतः ममत्व विसर्जन के लिए गृहस्थ जीवन में एकांतर साधना प्रारंभ की। इंद्रियां पौद्गलिक जगत की दास न बनें, इसके लिए उन्होंने इंद्रियासक्ति पर विजय पाने के लिए अनेक प्रयोग किए। कभी कड़वा कैर का पानी पीया, कभी आतप में शयन करने का प्रयोग किया। संबंधों के बीच रहते हुए अकेलेपन को साध कर सत्य को उपलब्ध करना उनका अभीष्ट था। निजक धुत की साधना को पुष्ट करने के लिए आपने कहा—न मुझे पद चाहिए, न मुझे सम्मान चाहिए। न मुझे महल चाहिए, न धर्मस्थान चाहिए। जीवन ही नहीं मौत भी क्यों न आए, पर मुझे तो केवल सत्य की पहचान चाहिए।

इसलिए उन्हें मां की ममता घर में नहीं बांध सकी। साथियों का स्नेह लक्ष्यच्युत नहीं कर सका। गुरु और पद का मोह उनके लिए दीवार नहीं बन सका। नाम और यश की भूख उनके लिए अर्गला नहीं बन सकी। उन्होंने अपनी भाषा में कहा—

आत्मा रा कारज सारस्यां, मर पूरा देस्यां।

मुनि भीखण का चिंतन था कि कर्मोदय की सघनता के कारण ही पग-पग पर व्यक्ति के सम्मुख अवरोधों की दीवार आ खड़ी होती है और जन्म-मरण की श्रृंखला पुष्ट होने लगती है।

इस कर्मजाल के चक्रव्यूह को अपनी विशिष्ट साधना से वे तोड़ गिराना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने जिनवाणी को अपनी जीवन-शैली का विषय बनाया। आगम वाचन से उन्होंने जाना—

कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि

कृत कर्मों का भोग किए बिना मोक्ष नहीं, अतः वह काम आजीवन नहीं करना है, जिनसे गाढ़ कर्मों का बंध हो और साधुत्व के प्रतिकूल हो। साधुत्व के रहस्य को समझ कर कीचड़ के अनछुए कमल जैसा निर्लिप्त जीवन जीने के लिए वे संकल्पबद्ध हो गए।

उन्होंने पांचों इंद्रियों के विषयों का उपयोग आवश्यकतानुसार करने का निश्चय किया। प्रियता और अप्रियता से मुक्त रहने के प्रति भी वे सचेष्ट रहे, क्योंकि आसक्ति का एहसास इतना नशीला है कि बुराई को बुरा मानते हुए भी उससे बचा नहीं जा सकता। उनका निश्चय था कि मुझे उस चेतना का निर्माण करना है, जो परिस्थिति से अप्रभावित रह सके।

आचार्यश्री भिक्षु का जीवन जाग्रत न्याय-चेतना का साक्षी था। उन्होंने सदा न्याय का पक्ष लिया। जीवन-मूल्यों के नाम पर जीवन के आस-पास बिखरी उन सभी बातों को नकारा जो ईमानदारी का ढिंढ़ोरा पीट कर बेईमानी का फल देते थे।

सत्य शोध और पाप-भीरुता की वृत्ति के कारण उन्हें जो भी असत्य, अनुचित, अकरणीय, अव्यावहारिक लगा उसे न जीया, न सहयोगी बने, न उनका अनुमोदन किया। उन्होंने आत्मवाद को मात्र समझा ही नहीं अपितु कर्मवाद और अध्यात्मवाद को बहुत गहराई से परखा। इसी का परिणाम रहा कि कायोत्सर्ग, ध्यान, स्वाध्याय और आतापना से वे अपने कर्मों को झाड़ते रहे। वैसे ही, जैसे कि एक पक्षी अपने पंखों से रजों को झाड़ता है।

वे आचारनिष्ठ थे। उनकी भावना थी—**मुहूर्त्तज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम्**—अंगारे सा जीवन जीना है, चाहे मुहूर्त-भर ही जीऊं। धुआं बन कर लंबा जीना बेकार है। अतः वे पल-पल जागरूक रहे। विजयसिंहजी पटवा एवं वर्धमानजी को रात-भर जाग कर सम्यक् ज्ञान और सम्यक्त्व दीक्षा देने का उनका अभिक्रम इसका प्रमाण है। दया और दान, लौकिक और लोकोत्तर धर्म, हिंसा और अहिंसा के सिद्धांतों तथा द्रव्य और भाव की झीणी चर्चाओं को जन-जन के गले उतारने के लिए कितने-कितने उद्धरण प्रस्तुत किए, कितनी रातें जगाईं और कितने ही लोगों द्वारा उपहास किया गया, पर विधायक दृष्टिकोण के साथ सम्यक् रूप से उसे झेला। उस समय अनंत-अनंत कर्मों की उनकी निर्जरा होना स्वाभाविक ही था। एक-एक तत्त्व को समझा-समझा कर सैकड़ों-सैकड़ों व्यक्तियों की समस्याओं का, जिज्ञासाओं का सही समाधान उन्होंने दिया।

आचार्यश्री भिक्षु ने शरीर उपकरण के प्रति होने वाली ममत्व चेतना के प्रकंपन भी देखे।—**शरीरमाद्यं खलु धर्मः साधनम्**—अपने खाद्य संयम एवं पुरुषार्थ द्वारा शरीर की शक्तियों का पूर्ण उपयोग किया और अनेक अज्ञात रहस्यों

को जाना। ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार में वे अहर्निश संलग्न रहे।

उनका सहज संयम अजब था। किसी व्यक्ति ने पूछा—'स्वामीजी! क्या आपने घी और गुड़ खाया है?' उस जमाने में ये ही कीमती चीजें थीं। आपने फरमाया—'पाली के बाजार में घी और गुड़ को बिकते देखा है, पर खाया नहीं।' पांच वर्ष तक भरपेट आहार भी उन्हें सुलभ नहीं था। थोड़ा-सा कपड़ा मिलता तो संत भिक्षु और मुनि भारीमाल में परस्पर मधुर मनुहारें होतीं—पछेवड़ी आप बनाओ, चोलपट्टा तुम बनाओ। कभी क्लांति का अनुभव नहीं किया। अभाव में भाव देखते। आगम का बोधपाठ उनकी आंखों के सामने रहता। उपकरण अल्प तो प्रतिलेखन भी अल्प है, पर लाघव प्रशस्त रहा—'विश्वासयोग्य और जिनानुसार रहूं और **तवोत्ति अहियासहे**—सहज ही तपस्या होती रहे'—यही भावना रहती। प्राकृत साहित्य का यह मार्मिक पद्य उनके जीवन का शृंगार था—

थोवाहारो थोवा भणियो य, जो होई थोव निद्दोय।
थोवोवहि उपगरणे, तस्स हु देवावि पणमंति।।

सचमुच उनका आहार संयम, वाणी संयम, निद्रा संयम, उपकरण संयम इतना प्रशस्त था कि देवता भी प्रणत हो जाएं। आचार्यश्री भिक्षु मात्र द्रव्य अवमौदर्य की साधना ही नहीं करते, अपितु भाव अवमौदर्य की विशिष्ट साधना भी करते थे। आपका जीवन भाव साधुता को पूर्ण चरितार्थ करने वाला था। कहा गया है—

क्षान्त्यादि गुण संपन्नो, मैत्र्यादि गुण भूसितः।
अप्रमादी सदाचारी, भाव साधुःप्रकीर्तितः।।

आचार्यश्री भिक्षु को हम चाहे किसी भी कोण से समझें, उनमें भाव साधुता की झलक स्पष्ट मिलती है।

आचार्यश्री भिक्षु के प्रभावशाली व्यक्तित्व को देख कर कहा जाता था कि आपकी बुद्धि तो नौ-कोटि राज्यों का भार संभाले वैसी है। आचार्यश्री भिक्षु इसका बड़ी सहजता से प्रत्युत्तर देते—

बुद्धि बाही सराहिए, जो सेवे जिन धर्म।
बा बुद्धि किण काम री, जो पड़िया बांधे कर्म।।

आचार्यश्री भिक्षु अपने संपूर्ण जीवनकाल में प्रायः स्वस्थ रहे। उन्होंने प्रकाम पुरुषार्थ कर स्वावलंबी जीवन जीया। वे अंतिम वर्षों तक कंधों पर वजन भी उठाते, उग्रविहार करवाते, गोचरी पधारते और खड़े-खड़े प्रतिक्रमण करवाते। उनकी स्वस्थता और प्रसन्नता का यह स्वयंभू प्रमाण है, पर उनको इसका भी अहं नहीं था। वे सदैव यही सोचते कि पुरुषार्थ से समस्याओं के घेरे को चीरकर सहज ही बाहर निकला जा सकता है। स्वस्थता एवं पुरुषार्थ और बहुश्रुतता एवं विनम्रता के योग से ही उनके जीवन में प्रकाश और विकास का अभ्युदय हुआ। जो संयम के प्रति जागरूक, समर्पित होता है, इंद्रिय विषयों में अनाकृष्ट होता है और राग-द्वेष विजेता बनने का लक्ष्य सतत सामने रखता है—वही गौरवत्रयी का विसर्जन करता है। उन्होंने समझा कि गौरवत्रयी के अधीन बनने वाला कभी धर्म का ज्ञान नहीं कर सकता।

आचार्यश्री भिक्षु ने हर परिस्थिति में अपने दिल और दिमाग को समत्व से भावित रखा। वे सुख में गर्वित नहीं बने, तो दुख में घुटने भी नहीं टेके। उनका संकल्प फौलादी चट्टान की तरह था। उनका साहस ही कवच और ढाल थी। पुरुषार्थ उनका विश्वास था। संघर्षों को जीवन का पर्याय और संभावनाओं की प्रेरणा मानते हुए वे सदा आगे बढ़े। उस अभय पुरुष को न समाज का विरोध रोक सका, न सिद्धांतों की दुहाई रोक सकी, न प्रलोभन रोक सका, न भय और न किसी का दबाव। जिन के जीवन का आदि, मध्य और अंत ज्योतिर्मय रहा—ऐसे आचार्यश्री भिक्षु के प्रति हर कोई प्रणत है।

जिन्होंने तितिक्षा, लाघव और विविध तपों में रत रह कर पांचों धुतों की विशिष्ट साधना की, जिनकी तपस्या का वलय इतना शक्तिशाली था कि उसके परमाणु हजारों वर्षों तक अपना प्रभाव सुरक्षित रखे हुए है—ऐसे आचार्यश्री भिक्षु के खून और पसीने से सींची बुनियाद पर टिके तेरापंथ धर्मसंघ में जो भी आएगा वह पाएगा—शांति, समाधि, अमृत, आनंद और आलोक। ❖

मनुष्य द्वारा किए गए कामों की एक निश्चित परिणति यह है कि वह जिन लक्ष्यों के लिए संघर्ष कर रहा है, वही लक्ष्य उससे लगातार दूर जा रहे हैं। हम अपने कर्मों के फल को बढ़ावा देने की जितनी कम इच्छा रखते हैं, सफलता की निश्चितता उतनी ही बढ़ जाती है।

—जॉन रस्किन

युवाचार्यश्री बहुत जागरूक रहते हैं कि मुझे असत्य का दोष किंचित मात्र भी न लग जाए। इसीलिए वे प्रायः निश्चयकारिणी भाषा का प्रयोग नहीं करते हैं। उनके हर वक्तव्य में अनेक बार 'आसरै', 'लखावै', 'संभवतः' जैसे शब्दों का प्रयोग सुनने को मिलता है। सत्यभाषी के साथ-साथ वे मधुरभाषी, परिमितभाषी और परीक्ष्यभाषी भी हैं। वे हर एक शब्द को तौल कर बोलते हैं। संस्कृत साहित्य में कहा गया—मितं च सारं च वचो हि वाग्मिता—जो परिमित और सारपूर्ण बोलता है, वह वाक्पटु होता है।

युवाचार्यश्री वाक्पटु हैं। वे अपेक्षा और उपयोगिता को समझ कर बोलते हैं। आवश्यक हो तो दो घंटे भी बोल लेते हैं और अपेक्षा न हो तो वो दो मिनट भी नहीं बोलते। इससे न तो उनके समय का अपव्यय होता है और न ही अनावश्यक ऊर्जा खर्च होती है। इसलिए वे प्राणवान हैं।

युवाचार्यश्री महाश्रमण : सत्यश्रद्धा बलीयसी

❑ साध्वी सुमतिप्रभा ❑

प्राणवत्ता के तीन मुख्य आधार बिंदु हैं—सत्य, श्रद्धा और तप। इस दृष्टि से यदि हम युवाचार्यश्री महाश्रमणजी के व्यक्तित्व को देखें तो हमें उनमें प्राणवत्ता की एक स्पष्ट झलक मिलती है। उनके पास सत्य का बल है। उनके मन में नैतिक मूल्यों के प्रति, प्रामाणिकता के प्रति, सचाई के प्रति जो निष्ठा है, वह बेजोड़ है। उनका मानना है कि जीवन में जो भी कठिनाई आएगी, उसे झेलेंगे, किंतु सचाई के पथ पर चलेंगे। सत्य के प्रति युवाचार्यवर की गहरी निष्ठा है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'शिक्षा सुधा' में लिखा भी है—

नो चिन्ता सत्यभक्तानां, नो दुःखं सत्यसेवने।
नो भयं सत्यपुत्राणां, सत्यश्रद्धा बलीयसी।।

—सत्य-भक्तों को चिंता नहीं। सत्य के आचरण में दुख नहीं। सत्य-पुत्रों को भय नहीं, सत्य श्रद्धा में बहुत बल होता है।

सत्य के लिए जीना श्रेष्ठ है और सत्य के लिए मरना भी श्रेष्ठ है। कहा भी है—

सत्याय जीवनं श्रेष्ठं, सत्याय मरणं वरम्।

युवाचार्यश्री बहुत जागरूक रहते हैं कि मुझे असत्य का दोष किंचित मात्र भी न लग जाए। इसीलिए वे प्रायः निश्चयकारिणी भाषा का प्रयोग नहीं करते हैं। उनके हर वक्तव्य में अनेक बार 'आसरै', 'लखावै', 'संभवतः' जैसे शब्दों का प्रयोग सुनने को मिलता है। सत्यभाषी के साथ-साथ वे मधुरभाषी, परिमितभाषी और परीक्ष्यभाषी भी हैं। वे हर एक शब्द को तौल कर बोलते हैं। संस्कृत साहित्य में कहा गया—**मितं च सारं च वचो हि वाग्मिता**—जो परिमित और सारपूर्ण बोलता है, वह वाक्पटु होता है।

युवाचार्यश्री वाक्पटु हैं। वे अपेक्षा और उपयोगिता को समझ कर बोलते हैं। आवश्यक हो तो दो घंटे भी

बोल लेते हैं और अपेक्षा न हो तो वो दो मिनट भी नहीं बोलते। इससे न तो उनके समय का अपव्यय होता है और न ही अनावश्यक ऊर्जा खर्च होती है। इसलिए वे प्राणवान हैं।

युवाचार्यश्री महाश्रमण प्राणवान हैं, क्योंकि उनके पास श्रद्धा का बल है। श्रद्धा का अर्थ है—लक्ष्य के साथ तादात्म्य या एकात्मकता स्थापित कर लेना, उसमें तन्मय हो जाना। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने लिखा है—**श्रद्धास्वादो न खलु रसितो हारितं तेन जन्म**—जिसने श्रद्धा का स्वाद नहीं चखा, वह जन्म ही हार गया, उसका जन्म व्यर्थ हो गया। अपने प्रति, अपने लक्ष्य के प्रति और पथदर्शक के प्रति श्रद्धा का भाव जीवन को सरस बनाए रखता है। जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव आ सकते हैं, किंतु श्रद्धालु व्यक्ति को कोई भी परिस्थिति बाध्य नहीं कर सकती।

श्रद्धा के साथ शक्ति का योग हो तो विशेष निष्पत्ति आ सकती है। श्रद्धा जीवन का बहुत बड़ा आश्रय है। जिसके प्रति श्रद्धा होती है, उसके प्रति सहज समर्पण का भाव होता है। श्रद्धा में इतनी ताकत होती है कि वह श्रद्धेय के दिल में अपना स्थान बना लेता है। जहां सर्वात्मना समर्पण होता है, वहां न कोई विकल्प होता है और न कोई तर्क। युवाचार्यवर का अपने गुरु के प्रति निर्विकल्प और तर्कातीत श्रद्धा-समर्पण है, इसीलिए हर इंगित-निर्देश का अक्षरशः पालन होता है।

आचार्यप्रवर फरमाते भी हैं कि हमसे कोई यह प्रश्न पूछे कि पूरे धर्मसंघ में सबसे अधिक आज्ञाकारी कौन? मैं कहूंगा—युवाचार्य महाश्रमण। ये युवाचार्य हैं, सर्वेसर्वा हैं, फिर भी कोई भी कार्य मेरी आज्ञा के बिना, मेरी दृष्टि के बिना नहीं करते। जहां इस प्रकार का सर्वात्मना श्रद्धा-समर्पण भाव होता है, वहां अनेक उपलब्धियां हासिल हो सकती हैं। श्रद्धा आनंद की निष्यंदिनी है।

युवाचार्य महाश्रमण प्राणवान हैं क्योंकि उनमें तप का बल है। तपस्या से व्यक्ति को कष्ट तो हो सकता है, पर वह कष्ट परमसुख की ओर ले जाने वाला होता है। पूज्य गुरुदेवश्री तुलसी के शब्दों में—'ध्यान करना तपस्या है, तो जनकल्याण के लिए चलना भी तपस्या है। मौन-व्रत तपस्या है, तो जनकल्याण के लिए बोलना भी तपस्या है। भूखे रहना तपस्या है, तो संयम की परिधि में खाना भी तपस्या है।' पूज्यश्री गुरुदेव तुलसी द्वारा प्ररूपित तप के ये प्रकार युवाचार्यप्रवर में साक्षात लक्षित हो रहे हैं। ध्यान के प्रति उनका प्रारंभ से ही आकर्षण रहा है। वे ध्यान करते हैं तो जनकल्याण के लिए और अनावश्यक न बोलने वाले मौनव्रत को भी हर समय जीवंत बनाए रखते हैं तो जनकल्याण के लिए। कई घंटों तक उपदेश-प्रवचन भी करते हैं और उपवास आदि भी करते हैं। आहार भी करते हैं, किंतु अनासक्ति के साथ।

तप एक सुरक्षा कवच है। जो इसे धारण कर लेता है, वह अनेक खतरों से बच जाता है। युवाचार्यश्री महाश्रमणजी इस सुरक्षा कवच से स्वयं कवचित हैं और संघ की सुरक्षा के लिए भी सदैव तत्पर रहते हैं। वे तपस्या को बहुत महत्त्व देते हैं। उन्होंने लिखा है—

जगति तपसो मूल्यं, तपसा कर्मनिर्जरा।
तपस्वी सुखमाप्नोति, सहजमात्मिकं परम्।।

—जगत में तप का मूल्य है। तप से कर्मनिर्जरा होती है। तपस्वी व्यक्ति सहज आत्मिक और श्रेष्ठ सुख को प्राप्त करता है। युवाचार्यश्री की तेजस्विता का, प्राणवत्ता का एक हेतु है—तप। युवाचार्यश्री महातपस्वी क्यों और कैसे हैं? आचार्यश्री महाप्रज्ञजी इसे स्पष्ट करते हुए एक प्रसंग पर कहते हैं—'महातपस्वी वह होता है, जो आहार का संयम करता है। महाश्रमण का आहार संयम अनुत्तर है। महातपस्वी वह होता है, जिसमें इंद्रिय संयम होता है। महाश्रमण का इंद्रिय संयम अनुत्तर है। महातपस्वी वह होता है, जो श्रमशील होता है। महाश्रमण की श्रमशीलता अनुत्तर है। महातपस्वी वह होता है, जो सहनशील होता है। महाश्रमण की सहनशीलता अनुत्तर है।'

पूज्य गुरुदेव तुलसी के शब्दों में—'प्राणवान व्यक्ति अपने कर्तृत्व से युग के 'कैनवास' पर ऐसी पहचान बना लेता है, जो उस देश, काल और संस्कृति की पहचान बन जाती है।' युवाचार्यश्री महाश्रमणजी ने भी अपनी अलग पहचान बनाई है। उनमें सत्य और श्रद्धा का बल है, तो तप का तेज भी है। सत्य, श्रद्धा और तप के द्वारा उनका आभामंडल पवित्र बना हुआ है। जिसका आभामंडल जितना उज्ज्वल होता है वह उतना ही आकर्षक, प्रभावी और आदरास्पद होता है।

❖

पिता की यह क्षुद्रता सुन कर लड़की स्तब्ध रह गई। उसके मन में उथल-पुथल मचने लगी। निर्दोष महापंडित कल्पक उसी के कारण मृत्यु के द्वार पर खड़ा है, उफ! वह उसे कैसे बचाए? क्या उपाय करे कि राजा पर सचाई प्रकट हो सके? उसने सोचा, क्यों न वह चुपके से सारी बात अपने पड़ोसियों को बता दे? वे तुरंत जाकर राजा को खबर कर देंगे। लेकिन, हो सकता है पड़ोसियों की बात पर राजा को विश्वास न आए। उचित तो यह रहे कि उसे स्वयं ही जाकर राजा से भेंट करनी चाहिए और सारी कारगुजारी से तत्काल उन्हें अवगत कराना चाहिए। उसे राजा के पास जाने की बात ही उचित लगी। उसने निश्चय किया कि जैसे ही उसका पिता गहरी नींद में सो जाएगा, वह आहिस्ता से किवाड़ खोल कर राजा के महल की ओर चल देगी।

कल्पक की मुक्ति

❑ चित्रा मुद्गल ❑

बहुत पुरानी बात है। मिथिला नगरी में देवीशरण नाम का एक चतुर ब्राह्मण रहता था। उसकी एक बेटी थी। बेटी सदैव बीमार रहती थी। देवीशरण ने उसका बहुत इलाज करवाया। अनेक प्रसिद्ध वैद्यों-हकीमों को दिखाया, पर किसी की भी दवा उस पर असर नहीं कर पाई।

देवीशरण की बेटी रोगिणी है, यह बात आस-पास के इलाकों में बुरी तरह फैल चुकी थी। परिणामस्वरूप देवीशरण जहां भी बेटी के ब्याह की चर्चा चलाता, लोग तुरंत इनकार कर देते। उसने सोचा, आसानी से बात नहीं बनेगी। कोई तिकड़म भिड़ानी पड़ेगी। तभी वह बेटी के हाथ पीले कर पाएगा।

काफी विचार करने के बाद देवीशरण को एकाएक शीलवान विद्वान ब्राह्मण कल्पक का ध्यान हो आया। उसे अपनी रोगिणी बेटी के लिए वह सुयोग्य वर लगा। कल्पक ब्रह्मचारी था। आश्रम में रहता था। वहीं वह अपने शिष्यों को वेद-पुराण पढ़ाता था। अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा भी देता था।

सप्ताह में एक बार शनिवार के दिन कल्पक नगर में भिक्षाटन के लिए निकलता। जो-कुछ भी उसे मिलता—पूरे हफ्ते वही उसका भोजन होता। देवीशरण ने यह भी सुन रखा था कि कल्पक अपनी बात का बहुत पक्का है। उचित-अनुचित का भी उसे बहुत खयाल है। कल्पक अगर किसी प्रकार उसके फंदे में फंस जाए तो वह बेटी के ब्याह की चिंता से मुक्त हो सकता है।

उसने अपने घर के आंगन में एक कुआं खुदवाया और शनिवार की सुबह की प्रतीक्षा करने लगा। शनिवार की सुबह जैसे ही कल्पक अपने कुछ शिष्यों समेत उसके

घर की देहरी पर भिक्षा मांगने के लिए पहुंचा कि देवीशरण ने झट से अपनी बेटी को कुएं में धकेल दिया। फिर दहाड़ मार कर रोने लगा।

देवीशरण ने नाटक करते हुए कहा—'पंडितजी, मेरी लाडली बेटी कुएं में पानी भर रही थी कि अचानक उसका पांव फिसल गया और वह कुएं में गिर पड़ी। मैं एक टांग से दुर्बल हूं। किसी प्रकार कुएं में नहीं उतर सकता। अब मेरी बेटी का क्या होगा? उसके प्राण कैसे बचेंगे?'

कल्पक को देवीशरण पर दया हो आई। उसने उसे धैर्य बंधाया—'घबराओ नहीं देवीशरण, तुम्हारी बेटी सकुशल कुएं से बाहर आ जाएगी।'

यह कह कर कल्पक ने एक बड़ा रस्सा मंगवाया और उसके सहारे कुएं में उतर कर देवीशरण की बेटी को बाहर निकाल लाया। कुएं में पानी अधिक नहीं था, किंतु लड़की आघात से मूर्च्छित थी। कल्पक ने उसे देवीशरण की ओर बढ़ाते हुए प्रसन्न होकर कहा—'लो, अपनी बेटी को संभालो। इसे कुछ नहीं हुआ है। थोड़ी देर में इसकी मूर्च्छा दूर हो जाएगी।'

बेटी को सही-सलामत देख कर देवीशरण के मुख पर फिर भी उदासी बनी रही। उसने मूर्च्छित बेटी को कल्पक के हाथों से लेने से इनकार कर दिया। कहने लगा—'मैं अब इसे लेकर क्या करूंगा? कहां रखूंगा? इससे तो अच्छा है कि इसे मौत आ जाए।'

कल्पक और उसके शिष्य देवीशरण की विचित्र बातें सुन कर चकित हो उठे। उनकी समझ में कुछ भी न आया। आखिर कल्पक ने पूछा—'देवीशरण! एकाएक तुम इतनी निराशा भरी बातें क्यों करने लगे? क्या अपनी बेटी को सकुशल देख खुशी नहीं हुई?'

देवीशरण ने मुंह लटका कर उत्तर दिया—'खुशी तो हुई पंडितजी, लेकिन भविष्य की चिंता उससे भी बड़ी है। मेरी बेटी ब्याह लायक है। आप इसे कुएं से निकाल कर ले आए हैं। इसने परपुरुष का स्पर्श किया है। अब इसे कोई दूसरा अपनी पत्नी कैसे बनाएगा? अब कहीं भी इसका विवाह संबंध नहीं हो सकता। अब तो इसके जीवन का उद्धार आप को ही करना होगा। कृपा कर इसे अपनी पत्नी बना कर सामाजिक मान-मर्यादा दें।'

देवीशरण की बात सुन कल्पक और उसके शिष्य अचंभित हो उठे। लेकिन, फिर भी कल्पक ने धैर्य न छोड़ा। उसने शांतभाव से कहा—'देवीशरण! मैंने तुम्हारी बेटी को कर्तव्य भाव से बचाया है। मेरा कर्तव्य पूरा हुआ। अब तुम जानो, तुम्हारा काम जाने। मैं जा रहा हूं।'

यह कह कल्पक अपने शिष्यों समेत आगे बढ़ गया।

अपनी योजना विफल होते देख देवीशरण चिढ़ गया। उसने कल्पक से बदला लेने का निश्चय किया।

दूसरे दिन वह राजा नंद के पास पहुंचा और कल्पक की शिकायत करते हुए बोला—'राजन! कल्पक ने मेरी बेटी का स्पर्श किया है और अब उससे ब्याह के लिए राजी नहीं हो रहा है।'

कल्पक के विषय में ऐसी ओछी शिकायत सुन राजा नंद चकित हो गए। कल्पक की उन्होंने बहुत ख्याति सुनी थी कि वह दान-मान की इच्छा नहीं रखता। वह एक विद्वान ब्राह्मण ही नहीं है अपितु शस्त्रकला में भी पारंगत है। अपने आश्रम में वह शिष्यों की आचरण शुद्धता पर बहुत बल देता है। उसकी ऐसी ख्याति सुन कर राजा ने एक बार कल्पक के पास प्रस्ताव भिजवाया था कि वह उनके मंत्रिमंडल में सम्मिलित हो जाए, किंतु कल्पक ने उनका प्रस्ताव ठुकरा दिया था। उन्हें देवीशरण के आरोप पर विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने उसे लगभग धमकाते हुए पूछा—'क्या तुम सत्य कह रहे हो?'

'विश्वास न हो राजन तो आप कल्पक को बुलवा कर स्वयं ही पूछ लें।'

देवीशरण के आत्मविश्वास भरे स्वर ने राजा नंद को संशय में डाल दिया। वे गहरे सोच-विचार में पड़ गए। अंत में उन्होंने कल्पक से सीधे बात करना उचित समझा। उन्होंने फौरन एक सैनिक को बुला कर आदेश

दिया—'जाओ, सम्मानपूर्वक कल्पक को राजदरबार में ले आओ।'

डेढ़-दो घंटे बाद सैनिक अकेले ही वापस लौट आया। पूछने पर वह संकोचपूर्वक बोला—'उन्होंने कहा है मैं इस समय अपने कर्तव्य में लगा हुआ हूं, राजदरबार में हाजिर होने के लिए मेरे पास समय नहीं है। अगर राजा को मुझसे कोई प्रयोजन है तो वे स्वयं आश्रम आकर मुझसे मिलें। उनका स्वागत है।'

कल्पक का उत्तर सुन राजा नंद ने स्वयं को तिरस्कृत अनुभव किया। देवीशरण फौरन ताड़ गया कि कल्पक के उत्तर से राजा के मन को ठेस पहुंची है। उसने सोचा क्यों न राजा की आहत भावनाओं को भड़का कर कल्पक से कठोर बदला लिया जाए! उसने राजा से कहा—'कल्पक किस काम में व्यस्त है, कहिए तो वह भी मैं आपको बता दूं।'

—'तुम्हें कैसे पता है कि वह किस काम में व्यस्त है?'—राजा नंद ने तनिक आश्चर्य से पूछा।

—'आपके पास शिकायत लेकर आने से पहले मैं उसे समझाने कल्पक के आश्रम में गया था कि अब भी समय है, वह चेत जाए और मेरी बेटी को अपनी पत्नी बना ले। ताकि व्यर्थ के विवाद से दोनों ही बच जाएं।'

'फिर?'—राजा नंद की उत्सुकता बढ़ गई।

उत्तर में कुछ कहते हुए देवीशरण तनिक झिझका।

राजा ने उसकी झिझक तोड़ी—'जो-कुछ कहना है, निर्भय होकर कहो। तुम पर कोई आंच नहीं आएगी।'

अब देवीशरण बोला—'राजन! आज आश्रम में प्रधान शिष्य अभिनंदन का आयोजन है। कल्पक के द्वारा शिक्षित सैकड़ों शिष्य इस समारोह में सम्मिलित होने आए हैं। मैंने वहां दो शिष्यों को आपस में गुपचुप बातचीत करते सुना और मुझे आपके खिलाफ षड्यंत्र की भनक मिली। वे कह रहे थे कि अब आश्रम के सारे शिष्यों को सैनिकों के रूप में प्रतिष्ठित किया जाएगा। कुछ दिनों बाद शिष्यों की यह जमात सैनिक टुकड़ियों में बंट जाएगी और सुवर्मा उनका सेनापति होगा। सुअवसर पाते ही वह राजा नंद पर आक्रमण कर देगा और स्वयं राजगद्दी पर बैठ जाएगा। कल्पक राजगुरु के पद पर प्रतिष्ठित होगा।'

देवीशरण की बात सुन राजा का खून खौल उठा। उसने पूछा—'क्या प्रमाण है कि तुम सच बोल रहे हो?'

—'आप आश्रम में अपने गुप्तचर भेज कर पता लगा लें। लेकिन, उन्हें पीली पोशाक में वहां भेजें। आज आश्रम के अधिकांश लोग पीली पोशाक धारण करेंगे। उस पोशाक में गुप्तचरों को वहां कोई पहचान नहीं पाएगा। वे अपना काम भी आसानी से कर सकेंगे।'

राजा नंद ने तुरंत एक सैनिक को आदेश दिया कि वह दो गुप्तचरों को पीली पोशाक में तत्काल आश्रम भेज दे और वहां की गतिविधि का पता लगा कर आने के लिए कहे।

सैनिक के जाते ही राजा देवीशरण पर उबल पड़ा—'मूर्ख! इतने बड़े षड्यंत्र की बात तूने पहले क्यों नहीं बताई? जानता है, इसके लिए तुझे कड़ी से कड़ी सजा मिल सकती है?'

देवीशरण गिड़गिड़ाते हुए राजा के चरणों में लोट गया और क्षमा मांगते हुए कहने लगा—'राजन, मेरा एक स्वार्थ था। इसलिए मैंने यह बात पहले नहीं बताई। मैं जानता हूं। कल्पक लाख षड्यंत्र रचे, मगर वह आपके प्रताप के सामने कुछ भी नहीं है। वह अपने पहले प्रयास में ही मुंह की खाएगा और तत्काल मारा जाएगा। लेकिन, मैं चाहता था कि अगर आपके दबाव में आकर पहले वह मेरी बेटी से ब्याह कर ले और तब मुठभेड़ में मारा जाए, तो कम से कम मेरी बेटी सधवा होकर विधवा बनेगी। किंतु वह कलंकिनी कहलाने से तो बच जाएगी···· बस, इसीलिए मैं मुंह में ताला डाले रहा।'

राजा नंद को देवीशरण की बात तर्कपूर्ण लगी। पिता के लिए सबसे बड़ा दुख होता है उसकी कन्या पर कलंकिनी होने का आरोप लगना। अतः देवीशरण का यह आचरण स्वाभाविक है।

राजा को नम्र पड़ता देख देवीशरण तुरंत व्यथित स्वर में बोला—'राजन, जब तक आपके गुप्तचर आश्रम से

खबर लेकर आते हैं, क्या इस बीच मैं अपनी बेटी को देख आऊं? वह कल्पक के व्यवहार से इतनी दुखी है कि न कुछ खाती है, न पीती है। मैं उसे थोड़ा खिला-पिला कर फौरन आपकी सेवा में हाजिर होता हूं।'

राजा ने उसके जाने में कोई हर्ज नहीं समझा।

राजा के पास से निकल कर देवीशरण आनन-फानन कल्पक के आश्रम पहुंचा। कल्पक से तो उसे मिलना था नहीं, बस उसकी दृष्टि पीली पोशाक वाले दोनों गुप्तचरों को खोजने लगी। आश्रम में जहां-तहां गेरुए वस्त्रधारियों की ही भीड़ थी। उनके बीच गुप्तचरों को पहचानना मुश्किल नहीं था। वह अभी इधर देख ही रहा था कि अचानक दो पीले वस्त्रधारी उसे दिख गए। वह तेज डग भरता हुआ उनके निकट जा पहुंचा और बात बनाता हुआ फुसफुसाकर पूछने लगा—'क्या तुम दोनों चेलि राजा के संदेशवाहक हो?'

गुप्तचर उसकी बात सुन कर चौंके। वे तुरंत भांप गए कि दाल में कुछ काला है। यह आश्रम का कोई विशेष व्यक्ति है और चेलि राजा के किसी गुप्त संदेश की प्रतीक्षा में है।

उनमें से एक ने थाह पाने के इरादे से धीमे स्वर में उत्तर दिया—'हां, हम उनके संदेशवाहक हैं। बताओ, यहां क्या-क्या तैयारियां हो चुकी हैं?'

देवीशरण गुप्तचरों की चतुरता की मन ही मन प्रशंसा करता हुआ बोला—'आज प्रधान शिष्य सुवर्मा का समारोह है। बस, कुछ ही दिनों बाद वह प्रधान सेनापति बन जाएगा और शिष्यों की यह जमात राजा नंद पर धावा बोल देगी। खैर, यह बताओ, राजा चेलि ने सहायता के बारे में क्या कहा है?' गुप्तचरों ने उत्तर दिया—'वे सहायता के लिए तैयार हैं।'

देवीशरण यह सुन कर चुपचाप उनके पास से खिसक लिया। उसने सोचा वह घर जाकर थोड़ी देर आराम कर ले। तब तक ये गुप्तचर राजा से भेंट कर आश्रम में हो रहे षड्यंत्र की पक्की खबर उन्हें अवश्य दे देंगे। जब वह संध्या को उनके पास पहुंचेगा, अभिमानी कल्पक उसे बेड़ियों में जकड़ा नजर आएगा।

आराम करने के बहाने देवीशरण को हलकी-सी झपकी लग गई। आंख खुली तो अंधेरा घिर रहा था। वह भागा-भागा राजमहल पहुंचा। वहां का तनावपूर्ण वातावरण देख कर उसने एक सैनिक से मामला पूछा। सैनिक ने बताया—'महापंडित कल्पक और उनके शिष्यों को राजद्रोह के अपराध में बंदी बना लिया गया है। उन्हें फांसी की सजा सुनाई गई है और शिष्यों को आजन्म कारावास। कल तड़के उन्हें फांसी पर चढ़ा दिया जाएगा।'

देवीशरण की प्रसन्नता का पारावार न रहा। उसके अपमानित हृदय की ज्वाला पर जैसे ठंडे पानी की फुहार पड़ गई। उसका उद्देश्य पूरा हो गया था। उसने कल्पक से बदला ले लिया था। वह उलटे पांव घर लौट पड़ा।

महापंडित कल्पक के बंदी बना लिए जाने की चर्चा पूरे नगर में फैल गई। नगरवासियों को विश्वास नहीं हो रहा था कि उस जैसा साधु पुरुष राजा के विरुद्ध कोई षड्यंत्र भी रच सकता है। मगर वे लाचार थे। कुछ कर भी नहीं सकते थे।

देवीशरण रास्ते में जिससे भी कल्पक के विषय में बातें करता, उसकी सज्जनता की प्रशंसा करते न थकता।

इधर घर पर उसकी बेटी ने भी अड़ोस-पड़ोस से यह दुखद समाचार सुना तो उसका हृदय वेदना से भर उठा। उसे विश्वास नहीं हुआ कि दूसरों के लिए सदैव कष्ट उठाने वाला कल्पक इस तरह का नीच कार्य भी कर सकता है। वह सचाई जानना चाहती थी। कल्पक पर उसकी गहरी श्रद्धा थी।

जैसे ही उसके पिता देवीशरण ने घर में पांव रखा, लड़की ने बेचैन होकर पूछा—'मेरे प्राणों की रक्षा करने वाला कल्पक क्या सचमुच राजद्रोही है?'

देवीशरण ने दर्प से ठठा कर हंसते हुए कहा—'वह राजद्रोही नहीं, मेरा द्रोही है।'

—'आपका?'

—'हां, हां, मेरा।'

—'लेकिन, उस महापुरुष ने तो मेरी जीवन-रक्षा

की थी। वह आपका द्रोही कैसे हो गया?'—लड़की ने प्रतिवाद किया।

अपनी चतुराई के मद में चूर देवीशरण ने बेटी को सारी घटना आदि से अंत तक ज्यों की त्यों कह सुनाई। फिर बोला—'मेरी सारी योजना सफल रही, लेकिन दुष्ट कल्पक ने तुझसे ब्याह करने से मना कर दिया। बस मेरे आहत अहं ने दूसरा संकल्प किया। जब तक मैं कल्पक से तिरस्कार का बदला नहीं ले लूंगा, चैन से नहीं बैठूंगा। बेवकूफ, मुझे कर्तव्य-अकर्तव्य का पाठ पढ़ाने चला था। अब भोगे मृत्युदंड....'

पिता की यह क्षुद्रता सुन कर लड़की स्तब्ध रह गई। उसके मन में उथल-पुथल मचने लगी। निर्दोष महापंडित कल्पक उसी के कारण मृत्यु के द्वार पर खड़ा है, उफ! वह उसे कैसे बचाए? क्या उपाय करे कि राजा पर सचाई प्रकट हो सके? उसने सोचा, क्यों न वह चुपके से सारी बात अपने पड़ोसियों को बता दे? वे तुरंत जाकर राजा को खबर कर देंगे। लेकिन, हो सकता है पड़ोसियों की बात पर राजा को विश्वास न आए। उचित तो यह रहे कि उसे स्वयं ही जाकर राजा से भेंट करनी चाहिए और सारी कारगुजारी से तत्काल उन्हें अवगत कराना चाहिए।

उसे राजा के पास जाने की बात ही उचित लगी। उसने निश्चय किया कि जैसे ही उसका पिता गहरी नींद में सो जाएगा, वह आहिस्ता से किवाड़ खोल कर राजा के महल की ओर चल देगी।

उसने वही किया। जैसे ही पिता की नाक बजने लगी। वह दबे पांव उठी और किवाड़ खोल कर घर से बाहर हो गई। राजमहल का रास्ता उसे पता नहीं था। उसने एक युक्ति सोची। गश्त लगाते हुए एक सैनिक से कहा—'मैं रनिवास की दासी हूं। किसी काम से नगर में निकली थी। अंधेरे के कारण रास्ता भटक गई। कृपा करके मुझे रास्ता बता दीजिए।'

लेकिन, राजमहल के द्वार पर प्रहरियों ने उसे भीतर जाने से रोक दिया। उसने प्रहरियों से विनती की कि वे उसे राजा से तुरंत मिलवा दें। वह उन्हें कुछ बेहद जरूरी बातें बताना चाहती है। किसी के जीवन-मरण का प्रश्न है। अगर वे उसे राजा से नहीं मिलने देंगे तो बहुत बड़ा अनर्थ हो जाएगा। प्रहरियों ने फिर भी उसकी बात पर विश्वास न किया। अब वह विचलित हो उठी। उसने प्रहरियों से साफ कहा—'मेरे पास कुछ ऐसे प्रमाण हैं, जो महापंडित कल्पक पर लगे अभियोग को झूठा साबित कर सकते हैं।'

कल्पक का नाम सुन प्रहरियों के कान खड़े हो गए। उन्होंने तुरंत उसे राजा से मिलवाने की व्यवस्था कर दी।

आधी रात में एक स्त्री को देख राजा ने हैरान होकर पूछा—'तुम्हारा परिचय?'

वह बोली—'मैं ब्राह्मण देवीशरण की पुत्री कमलिनी हूं।'

राजा को तुरंत ब्राह्मण की बेटी कमलिनी की याद हो गई। उन्होंने मृदु स्वर में कमलिनी से पूछा—'जिस पुरुष ने तुम पर अन्याय किया और वह राजद्रोही भी है, मैंने उस नीच को मृत्युदंड की सजा सुनाई है। अब तो तुम प्रसन्न हो?'

कमलिनी दुखी स्वर में बोली—'राजन! आप अनजाने ही बहुत बड़ा अनर्थ कर रहे हैं।'

—'तुम्हारा मतलब?'—राजा ने तनिक उत्तेजित होकर पूछा।

—'आपने महापंडित कल्पक को मृत्युदंड की सजा सुनाई है। किंतु, उस साधु पुरुष ने न मुझ पर अत्याचार किया है, न राजद्रोह!'

कमलिनी की बात सुन कर राजा असमंजस में पड़ गए। बोले—'क्या तुम प्रमाण दे सकती हो?'

—'पहला प्रमाण तो मैं स्वयं हूं राजन! मुझे लेकर कल्पक के बारे में जो शिकायत मेरे पिता ने आपसे की थी, वह सरासर मनगढ़ंत और झूठी है। कल्पक तो मेरे दूसरे जन्मदाता हैं। मेरे धर्मपिता। मेरे असली पिता ने तो ब्याह न हो पाने के कारण मुझे कुएं में ही धकेल दिया था। संयोग से कल्पक द्वार पर न पहुंचते तो मेरे प्राणों की रक्षा असंभव थी। उन्होंने ही मुझे गोद में उठा कर

कुएं से बाहर निकाला। बस, उसी पिता-तुल्य स्पर्श को मेरे पिता ने बहाना बना कर मुझे जबरन उनके गले मढ़ना चाहा। लेकिन, कल्पक ने स्पष्ट इनकार कर दिया। पिता ने इसे अपना तिरस्कार समझा और कल्पक से बदला लेने की योजना बना डाली।'

—'किंतु, आश्रम में जिस षड्यंत्र की रचना हो रही थी, क्या वह कल्पक का दुस्साहस नहीं था?'

—'वह भी मेरे पिता की चाल थी। पिता आपके पास से निकल कर सीधे आश्रम पहुंचे और पीले वस्त्रधारियों से इस प्रकार से बातचीत की कि उन्हें षड्यंत्र का यकीन हो जाए।'

सारा किस्सा सुन कर राजा उद्विग्न हो उठे। उन्होंने कमलिनी से अंतिम जिज्ञासा की—'तुम्हारे पिता ने आखिर यह सब क्यों किया?'

'राजन, पिता के संबंध नगर की एक नर्तकी से हैं। वह उससे ब्याह करना चाहते हैं, किंतु जब तक मेरी जिम्मेदारी से वे निवृत्त नहीं हो जाते, तब तक वे उससे ब्याह नहीं कर सकते। इसी चिंता में मैं भी अस्वस्थ रहने लगी और वे किसी भी प्रकार मुझसे छुटकारा पाने की कोशिश में लग गए।'

राजा को अपनी भूल का आभास हुआ। वे पश्चात्ताप से भर उठे। उन्होंने तुरंत सैनिकों को आदेश दिया कि वे बंदीगृह जाएं और महापंडित कल्पक को सादर मुक्त कर दें। ❖

घर-परिवार और मित्र-परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर **जैन भारती** उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक-नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म-दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, **जैन भारती** अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन भारती
एक संपूर्ण पत्रिका है
वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए
जैन भारती
पढ़ें, सबको पढ़ाएं

व्यवस्थापक
जैन भारती
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

 पृष्ठ 43 का शेष

कंबल को तो वह जला देते होंगे? क्या कहा आपने? अकाल और तंगी के उस जमाने में कंबल को जला देना नितांत मूर्खता होगी? संभवतः आप सही कह रहे हैं। पर, मैं आपसे सहमत नहीं हो सकता। जीवन के उस अंतिम चरण में मैं अपनी मान्यताओं पर अडिग रह ही सकता हूं। क्या कहा आपने—मैं एक दकियानूसी और जड़ प्राणी हूं? आपकी साफगोई पर मुझे कोई आपत्ति नहीं। आप तो लड़ने पर उतारू लगते हैं। मेरे जैसे व्यक्ति का समाज के लिए कोई उपयोग नहीं? ... मैं आपसे एक और प्रश्न पूछना चाहता हूं। आप कौन-से समाज की बात करते हैं? हमारे यहां कोई समाज है भी, आखिर? मुझे दोष मत दीजिएगा। जिस समाज की हम रजत जयंती मना चुके हैं उसे कोई समाज की संज्ञा से संबोधित करना पसंद करेगा? आप यथास्थितिवादी जान पड़ते हैं। इतना धैर्य तो मेरे जैसे बूढ़े में भी नहीं है? आप कैसे युवक हैं? संभवतः आपने इस दिशा में कभी सोचा भी नहीं। मैं दोष नहीं दे रहा। देखिए। मैं बहुत थक गया हूं। बक्सर और कितनी दूर है? आप तो बस पहुंचने ही वाले हैं। शेष कुछ मिनटों का ही साथ है। इतने कम समय में एक बात तो मैं स्पष्ट कर ही देना चाहता हूं, आपको कितना ही बुरा क्यों न लगे। एक सीमित वर्ग ने अधिकार अपने पास जमा कर रखा है तथा वह वर्ग उस अधिकार से चिपका रहना चाहता है। आप उन लोगों में से न भी हों, पर उनके निकट अवश्य जान पड़ते हैं। घूरकर मत देखिए। सच्ची बात हमेशा कड़वी होती है।...क्या कहा आपने? मुझे गिरफ्तार करवा देंगे? किसी धमकी का भला मेरे ऊपर क्या असर हो सकता है—मैं तो निवृत्त हो चुका। शेष दिन जहां भी गया, सुख-चैन से ही रहूंगा।

आप काफी महत्त्वाकांक्षी जान पड़ते हैं। आपकी आयु में होना भी चाहिए। शुरू में मैं भी आप जैसा ही था। धुंधली-धुंधली-सी दृष्टि। कदम-कदम पर समझौता। बात-बात में संशय, आत्मविश्वास की कमी और क्षणिक आवेश में कुछ भी कर गुजरने पर उतारू। अनुभव बहुत बड़ी चीज है। उपर्युक्त तमाम गुणों का ही करिश्मा था कि अपने दोनों नकारा लड़कों को मैं सरकारी नौकरियां दिलवाने में सफल रहा। मेरी महत्त्वाकांक्षा थी ही इंजन ड्राइवर बनने की। पेंशन मुझे बाकायदा मिल रही है।

आप कुछ शांत तो हुए। हमारा कोई पुश्तैनी वैर तो है नहीं। फिर भला आपको नाराज क्यों किया जाए? वह भी इस छोटी-सी यात्रा में। अभी आपका गंतव्य आ जाएगा और उसके कुछ समय बाद मेरी यात्रा भी समाप्त होने को है। मैं आपको अंतिम रूप में बताना चाहता हूं कि एक बहुत बड़ा तूफान उठने वाला है। यूं यह कोई अहम बात नहीं है। जो चढ़ता है, वह गिरता भी है। जो गिरता है, वह उठता भी है? क्या कहा आपने, मैं फिर बहक रहा हूं? आप मुझे गोली मार देंगे? न जाने क्यों, मैं आपकी ओर आकर्षित हो गया। अपना स्थान आपको फिर से निर्धारित करना होगा। देखिए। जो भी निर्णय लें खूब समझ कर। व्यवस्थित होने के निर्णय रोज-रोज नहीं बदले जाते।

वह देखिए, बक्सर आने को है। यह जो कच्चे-पक्के मकान हैं, नगर आने का सूचक हैं। अंतिम बात मुझे कहनी है, वह संक्षेप में कह दूं। फिर कभी अवसर मिले, न मिले। कला और दस्तकारी में मूलभूत अंतर होता है। एक मन-मस्तिष्क की खुराक है, तो दूसरी भौतिक उपलब्धियों का साधन। स्वयं ही निर्णय करें कि स्वयं का कलाकार के रूप में परिचय देना आपके लिए कहां तक उचित है। वह देखिए 'बस स्टाप'। ...अब आप उतर जाएंगे। ...मैं आपका नाम पूछने की धृष्टता नहीं करूंगा। यात्रा के ऐसे अस्थाई संबंध कभी घनिष्ठ नहीं हो पाते। नाम-पता नोट करना कितना निरर्थक होता है! ❖

प्रायः कहा जाता है कि केवल दर्शन, ललित-कला और साहित्य के क्षेत्र में ही भारत की कुछ महत्त्वपूर्ण देन है, उसमें भारतीय दर्शन धर्म से उलझा हुआ है, उसके ऊपर दुख का भूत चढ़ा हुआ है। भारतीय साहित्य और कला जहां धर्म से उलझे नहीं हैं, वहां मनुष्य की गरिमा को व्यक्त करने में समर्थ नहीं हैं, क्योंकि वे केवल सुखमय विलास का ही चित्र प्रस्तुत करते हैं। ऐसा कहने वाले यह नहीं सोचते कि धर्म हमारे यहां व्यापक अर्थ में गृहीत है। वह न कोई विश्वास है, न एक निश्चित आचरण-संहिता, वह दोनों को अर्थ प्रदान करने वाला जीवन का स्वभाव-सिद्ध व्यापार है।

—पं. विद्यानिवास मिश्र

बिनोदकुमार चोरड़िया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं प्रेषित और सांखला प्रिंटर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।

With best compliments from :

बच्छराज राजेन्द्र कुमार पुगलिया

कोलकाता-अलीपुरद्वार-श्रीडूंगरगढ़

LEO INDUSTRIES

19, Pollock Street, 2nd Floor

Kolkata-700001 (W. B.)

Phone Off. : 033-22355833, 22350261

Resi. : 033-24552439

जैन भारती, सितंबर, 2009
प्रेषण दिनांक 28 अगस्त, 09

"Licensed to Post without Pre-Payment" Under Licence No. Tech./W.R./47-2/11/2009-2011 Valid till 31-12-2011

भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पंजीयन संख्या : बीकानेर/048/2009-2011

प्रेषक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401 • फोन : 0151-2270779

नोट : आपके पते में कोई कमी, अशुद्धि या पिन-कोड नहीं हो तो कृपया सूचित करें। ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।